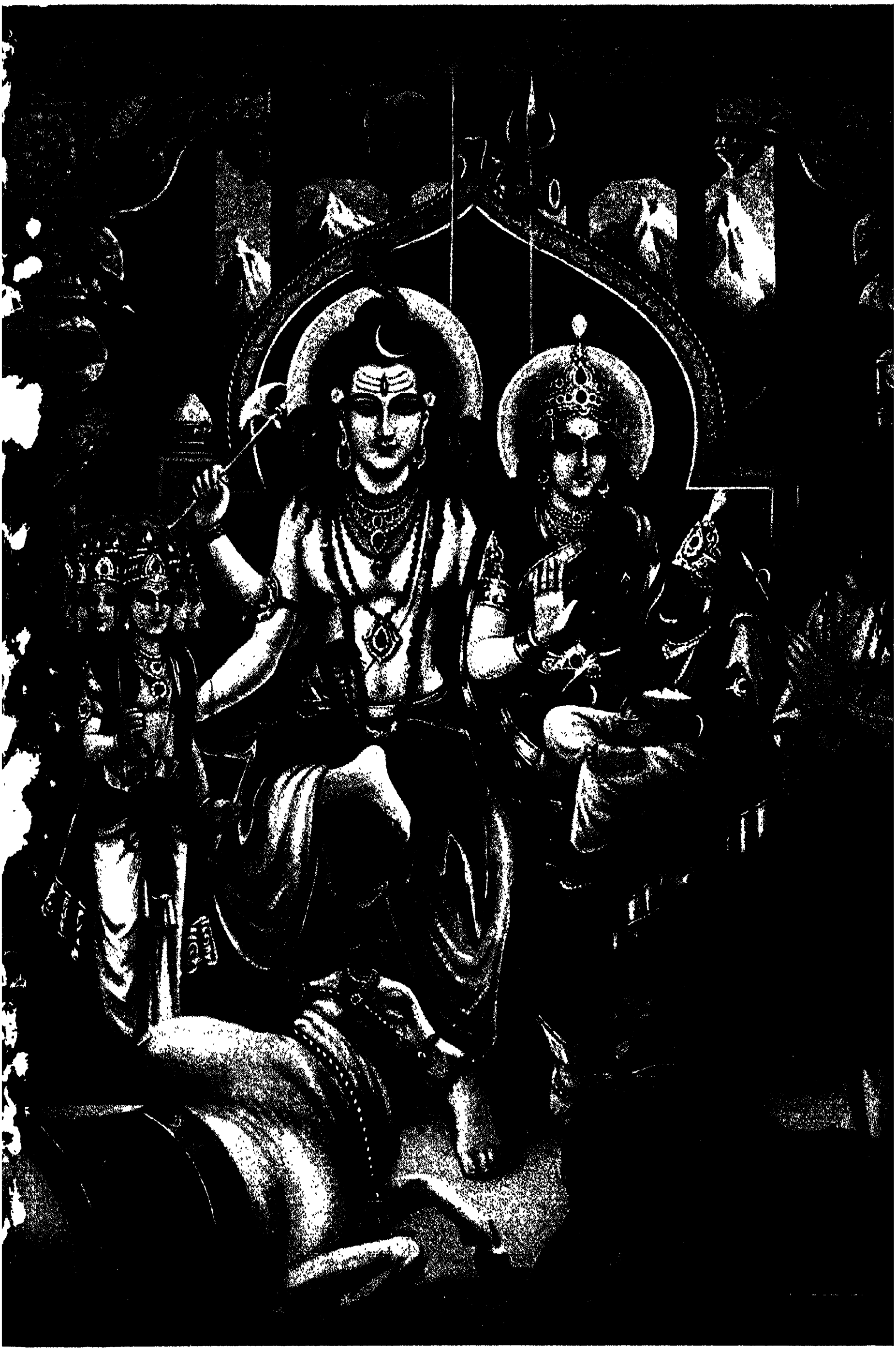
अच्युत



वर्ष १ } संरक्षक—गौरीशङ्कर गोयनका-समर्पित निधि, काशी

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

विषय-सूची

अपशूद्राधिकरण [पृ० ७२९–७४५]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्नरुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, भाद्र पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ८

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

धन्याष्टकम्—

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्तः ॥१॥

आदौ विजित्य विषयान् मदमोहरागद्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः ।
ज्ञात्वा मतं समनुभूय परात्मविद्याकान्तासुखं वनगृहे विचरन्ति धन्याः ॥२॥

त्यक्त्वा गृहे रतिमधोगतिहेतुभूतामात्मेच्छयोपनिषदर्थरसं पिबन्तः ।
वीतस्पृहा विषयभोगपदे विरक्ता धन्याश्चरन्ति विजनेषु विरक्तसंगाः ॥३॥

त्यक्त्वा ममाहमिति बन्धकरे पदे द्वे मानावमानसदृशा समदर्शिनश्च ।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि कुर्वन्ति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥४॥

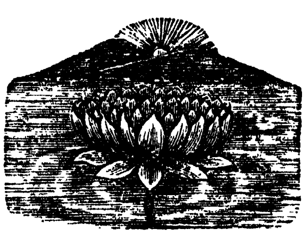
त्यक्त्वैषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा भैक्षामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः ।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोकयन्ति ॥५॥

नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु न स्त्री पुमान् न च नपुंसकमेकबीजम् ।
यैर्ब्रह्म तत् समनुपासितमेकचित्तैर्धन्या विरेजुरितरे भवपाशबद्धाः ॥६॥

अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारबन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥७॥

शान्तैरनन्यमतिभिः मधुरस्वभावैरेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः ।
साकं वनेपु विदितात्मपदस्वरूपं तद्वस्तु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥८॥

—श्रीशंकराचार्यः



शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

पदच्छेद—शब्दे, इति, चेत्, न, अतः, प्रभवात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

पदार्थोक्ति—शब्दे—वेदवाक्ये [विरोधः] इति चेत्, न, अतः—वैदिकशब्दात् [एव] प्रभवात्—देवादिजगत उत्पत्तेः, [तच्च] प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत' 'वेदशब्देभ्य एवादौ' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् [अवगम्यते]।

भाषार्थ—वेदवाक्यमें विरोध होगा यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदशब्दसे ही देवता आदि जगत्की उत्पत्ति होती है। यह बात 'एत इति वै०' ('एते' इस पदसे देवताओंका स्मरण करके प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया), 'वेदशब्देभ्य०' (सृष्टिके आदिमें महेश्वरने वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम, रूप और कर्मोंका अनुष्ठान आदि उत्पन्न किये) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे जानी जाती है।

भाष्य

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि, शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत। कथम्? औत्पत्तिकं हि शब्दस्याऽ-

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका शरीर स्वीकार करनेसे कर्ममें भले ही कुछ विरोध न आवे, परन्तु शब्दमें विरोध होगा ही। क्योंकि अर्थके साथ शब्दका औत्पत्तिक—

रत्नप्रभा

कर्मण्यविरोधमङ्गीकृत्य शब्दप्रामाण्यविरोधमाशङ्क्य परिहरति—शब्द इति चेदिति। मा प्रसञ्जि प्रसक्तो मा भूत् नामेत्यर्थः। औत्पत्तिकसूत्रे शब्दार्थयोः अनाद्योः सम्बन्धस्य अनादित्वाद् वेदस्य स्वार्थे मानान्तरानपेक्षत्वेन प्रामाण्यमुक्तम्, इदानीम् अनित्यविग्रहव्यक्त्यभ्युपगमे तत्सम्बन्धस्याऽपि अनित्यत्वाद् मानान्तरेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्ममें विरोध नहीं है, ऐसा अङ्गीकार करके पूर्वपक्षी शब्दप्रामाण्यमें विरोध है, ऐसी शङ्का करता है, "शब्द इति चेद्" इत्यादिसे सूत्रकार उसका परिहार करते हैं। 'मा प्रसञ्जि'—भले ही प्रसक्ति न हो। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वैदिक शब्दका अर्थके साथ वाच्यवाचकभावरूप संबन्ध स्वाभाविक—नित्य है, इससे—सम्बन्धके नित्य होनेसे धर्मके ज्ञान—ज्ञानका करण उपदेश-वेद प्रत्यक्षादि प्रमाणके अगोचर अर्थमें—धर्ममें अव्यतिरेक—अव्यभिचारी है। इससे प्रत्यक्षादिकी अपेक्षा न होनेसे वैदिक शब्द धर्ममें प्रमाण है यह बादरायण आचार्यका मत है) अनादि शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी अनादि है, इसलिए वेदको अपने अर्थका बोध करानेके लिए अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, अतः वेदमें

भाष्य

र्थेन सम्बन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद् युगपदनेककर्मसम्बन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवद् जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनाऽर्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्। नाऽयमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अतः प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति। ननु 'जन्माद्यस्य

भाष्यका अनुवाद

स्वाभाविक अर्थात् नित्य संबन्ध मानकर 'अनपेक्षत्वात्' इस हेतुसे वेदके प्रामाण्यका स्थापन किया है। यद्यपि देव शरीरी हैं, ऐसा स्वीकार करनेसे ऐश्वर्ययोगसे वे एक ही समय अनेक कर्मोंके साथ संबन्ध रखनेवाले हविषोंका ग्रहण कर सकते हैं, तो भी शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे हम लोगोंके समान वे जन्म और मरणवाले हो जायँगे, इसलिए नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य संबन्ध प्रतीयमान होनेसे वैदिक शब्दोंमें जो प्रामाण्य था, उसका अब विरोध हो जायगा, ऐसा यदि कोई कहे तो यह विरोध भी नहीं है। किससे? इससे उत्पन्न होनेसे। इससे ही अर्थात् वैदिक शब्दसे ही देव आदि जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु 'जन्माद्यस्य०'

रत्नप्रभा

व्यक्तिं ज्ञात्वा शब्दस्य संकेतः पुंसा कर्तव्य इति मानान्तरापेक्षत्वात् प्रामाण्यस्य विरोधः स्यादित्याह—**कथमित्यादिना**। किं शब्दानाम् अनित्यतया सम्बन्धस्य कार्यत्वम् आपाद्यते—उत अर्थानाम् अनित्यतया, नाऽऽद्य इत्याह—**नाऽयमपीति**। कर्मणि अविरोधवदिति अपेः अर्थः। देवादिव्यक्तिहेतुत्वेन प्रागेव शब्दानां सत्त्वात् नाऽनित्यत्वमिति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रामाण्य है, ऐसा इस औत्पत्तिक सूत्रसे सिद्ध किया गया है, देवताओंका अनित्य शरीर स्वीकार करनेसे उनके साथ शब्दका संबन्ध भी अनित्य होगा, अतः अन्य प्रमाणसे शरीरका ज्ञान प्राप्त करके पुरुषको शब्दोंका संकेत करना पड़ेगा, इस प्रकार वेदको अन्य प्रमाणकी अपेक्षा होनेके कारण उक्त वेदप्रामाण्य अब विरुद्ध हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। शब्द और अर्थके संबन्धमें अनित्यता शब्दके अनित्य होनेसे होती है अथवा अर्थके अनित्य होनेसे? पहला पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नाऽयमपि" इत्यादिसे। 'अपि' अर्थात् कर्ममें अविरोधके समान। आशय यह कि देवता आदि व्यक्तियाँ शब्दसे उत्पन्न होती हैं, अतः सृष्टिसे पहले शब्दोंके रहनेके कारण वे अनित्य नहीं हैं।

भाष्य

यतः' (ब्र० १।१।२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितम्, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते। अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्, तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते। प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्रे उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

सूत्रमें निश्चय किया गया है कि ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है, तब यहांपर यह कैसे कहते हैं कि शब्दसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है? और जब कि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् आदि अर्थ उत्पन्न होनेके कारण अनित्य ही हैं, तब किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि वैदिक शब्दसे इस जगत्‌की उत्पत्ति होती है, तो इतने ही से विरोधका परिहार किस प्रकार हुआ? वसु आदि अर्थ ही जब अनित्य हैं, तब उनके वाचक वैदिक 'वसु' आदि शब्दोंका अनित्यत्व कौन रोक सकता है? लोकमें प्रसिद्ध ही है कि देवदत्तके पुत्र होनेपर ही उसका नाम यज्ञदत्त रक्खा जाता है, इसलिए शब्दमें विरोध ही है।

रत्नप्रभा

अत्र पूर्वापरविरोधं शङ्कते—नन्विति। शब्दस्य निमित्तत्वेन ब्रह्मसहकारित्वात् अविरोध इत्याशङ्क्य द्वितीयं कल्पमुत्थापयति—अपि चेति। अनित्यत्वम्—सादित्वम्, व्यक्तिरूपार्थानाम् अनित्यतया शब्दानां सम्बन्धस्याऽनित्यत्वं दुर्वारम्, तस्मात् पौरुषेयसम्बन्धसापेक्षत्वात् प्रामाण्यविरोध इत्यर्थः। न च व्यक्तीनाम् अनित्यत्वेऽपि घटत्वादिजातिसमवायवत् शब्दसम्बन्धोऽपि नित्यः स्यादिति वाच्यम्। उभया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहां पूर्वापर विरोधकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। निमित्तकारण होनेसे शब्द ब्रह्मका सहकारी है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसी आशंका करके दूसरा पक्ष उठाते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अनित्य—सादि अर्थात् जिसकी उत्पत्ति होती है। व्यक्तिरूप अर्थके अनित्य होनेसे शब्दोंके संबन्धका अनित्यत्व दुर्वार है, इसलिए पुरुषकल्पित संबन्धकी अपेक्षा होनेसे प्रामाण्यका विरोध है, ऐसा अर्थ है। और व्यक्तियोंके अनित्य होनेपर भी जैसे घटत्व आदि जातिका घट आदि व्यक्तिके साथका समवाय नित्य है, वैसे ही शब्दसंबन्ध भी नित्य

भाष्य

नः गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाऽऽकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात्

भाष्यका अनुवाद

ऐसा यदि कहो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गो आदि शब्दों और अर्थोंका संबन्ध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेपर उनमें रहनेवाली जातियोंकी भी उत्पत्ति हो, यह नियम नहीं है। द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, द्रव्यत्व आदि जातियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। और शब्दोंका संबन्ध जातियोंके साथ है, व्यक्तियोंके साथ नहीं है,

रत्नप्रभा

श्रितसम्बन्धस्य अन्यतराभावे स्थित्ययोगेन दृष्टान्तासिद्धेरिति भावः। यथा गोत्वादयो गवादिशब्दवाच्याः तथा वसुत्वाद्याकृतयो वस्वादिशब्दार्थाः, न व्यक्तय इति परिहरति—**नेत्यादिना**। शब्दानां तदर्थानां जातीनां च नित्यत्वात् तत्सम्बन्धोऽपि नित्य इति प्रतिपादयति—**नहीत्यादिना**। **व्यक्तीनामानन्त्यादिति**। न च गोत्वावच्छेदेन व्यक्तिषु शक्तिः सुग्रहेति वाच्यम्। सामान्यस्य अप्रत्यासत्तित्वेन सर्वव्यक्त्युपस्थित्यभावात्। गोत्वं शक्यतावच्छेदकमिति ग्रहापेक्षया गोत्वं शक्यमिति लाघवात्, निरूढाऽजहल्लक्षणया व्यक्तेः लाभेन अनन्यलभ्यत्वाभावाच्चेति भावः। यद्वा, केवलव्यक्तिषु शक्तिः अत्र निरस्यते, अनुपपत्तिज्ञानं विनैव व्यक्तेः शब्दशक्त्यायत्तजातिज्ञानविषयत्वेन उभयशक्तेरावश्यकत्वात्। तथा च नित्यजातितादा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शब्द और अर्थका संबन्ध दोनोंमें रहता है, उन दोमेंसे एकके अभावमें संबन्ध नहीं रह सकता, इसलिए दृष्टान्त असिद्ध है। जैसे गो आदि शब्दोंका अर्थ गोत्व आदि जाति है, वैसे 'वसु' आदि शब्दोंका अर्थ वसुत्व आदि जाति ही है, व्यक्ति नहीं है, इस प्रकार प्रामाण्यविरोधका परिहार करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। "व्यक्तीनामानन्त्याद्" इत्यादि। व्यक्तियोंके अनुगमक गोत्वरूप जातिके सहारेसे सब व्यक्तियोंमें शक्तिका ग्रहण हो सकता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि जातिके प्रत्यासत्तिरूप—संबन्धरूप न होनेके कारण सब व्यक्तियोंकी उपस्थिति नहीं हो सकती। गोत्वको शक्यतावच्छेदक स्वीकार करनेकी अपेक्षा शक्य माननेमें लाघव है और निरूढ अजहल्लक्षणासे व्यक्तिका लाभ होता है, इसलिए व्यक्ति अनन्यलभ्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। अथवा यहां केवल व्यक्तिमें शक्तिका निरास किया जाता है, क्योंकि व्यक्तिके बिना जाति अनुपपन्न है, इस अनुपपत्तिज्ञानके बिना ही शब्दशक्तिके अधीन जो जातिज्ञान है, उसका विषय होनेसे व्यक्ति और जाति दोनोंमें

भाष्य

सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । आकृति-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः उनके साथ शब्दोंका संबन्ध-ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी जातियोंके नित्य होनेसे गो आदि शब्दोंमें कुछ विरोध नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार देव आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति माननेपर भी जातिके नित्य होनेसे वसु आदि शब्दोंमें कुछ विरोध नहीं

रत्नप्रभा

त्म्येन व्यक्तेः अनादित्वात् तत्सम्बन्धोऽप्यनादिः, सत्कार्यवादात्। अत एव वाक्यवृत्तौ तत्त्वमस्यादिवाक्ये भागलक्षणा उक्ता युज्यते, केवलसामान्यस्य वाच्यत्वेऽखण्डार्थस्य वाच्यैकदेशत्वाभावात् "अतः प्रभवात्" इति सूत्रस्वारस्याच्च केवलव्यक्तिशक्तिनिरास इति गम्यते। केवलव्यक्तिवचनाः खलु डित्थादिशब्दा अर्थानन्तरभाविनः सांकेतिकाः, गवादिशब्दास्तु व्यक्तिप्रभवहेतुत्वेन प्रागेव सन्तीति न व्यक्तिमात्रवचनाः सांकेतिकाः, किन्तु स्थूलसूक्ष्मभावेन अनुस्यूतव्यक्त्यविनाभूतसामान्यवचना इति मन्तव्यम्। न च इन्द्रादिव्यक्तेः एकत्वेन जात्यभावाद् आकाशशब्दवत् इन्द्रचन्द्रादिशब्दाः केवलव्यक्तिवचना इति साम्प्रतम्, अतीतानागतव्यक्तिभेदेन जात्युपपत्तेः इत्यलं प्रपञ्चेन। दृष्टान्तमुपसंहृत्य दार्ष्टान्तिकमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। इसलिए नित्यजातिसे अभिन्न होनेके कारण व्यक्ति भी अनादि है, अतः उसका संबन्ध भी अनादि है, क्योंकि सत्कार्यवादका स्वीकार है। इसीलिए वाक्यवृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें भागलक्षणाका कथन संगत होता है, क्योंकि केवल जाति यदि शक्य हो, तो अखण्डार्थ वाच्यका एकदेश नहीं हो सकता, इससे और 'अतः प्रभवात्' इस सूत्र भागके स्वारस्यसे भी ज्ञात होता है कि केवल व्यक्तिशक्ति पक्षका निरास है। डित्थ आदि शब्द केवल व्यक्तिवाचक हैं और व्यक्तिसे अनन्तर उत्पन्न होते हैं, इसलिए सांकेतिक हैं, परन्तु गो आदि शब्द व्यक्तिकी उत्पत्तिमें हेतु होनेके कारण व्यक्तिसे पहले रहते हैं, इसलिए व्यक्तिमात्रवाचक तथा सांकेतिक नहीं हैं, किन्तु स्थूल अथवा सूक्ष्मभावसे व्यक्तिमें अनुगत और व्यक्तिसे अविनाभूत सामान्य—जातिके वाचक हैं, ऐसा मानना चाहिए। इन्द्र आदि व्यक्तियोंके एक होनेके कारण उनमें जाति नहीं है, अतः आकाशशब्दके समान इन्द्र, चन्द्र आदि शब्द केवल व्यक्तिके वाचक हैं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागत व्यक्तियाँ भिन्न भिन्न हैं, अतः उनमें जाति है ही। दृष्टान्तका उपसंहार करके दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"व्यक्तिषु" इत्यादिसे।

भाष्य

विशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ता चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधितिष्ठति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणत्वाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिरतः प्रभव इत्युच्यते।

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा समझना चाहिए। मंत्र, अर्थवाद आदिसे देवताओंके शरीर आदिकी प्रतीति होनेसे उनकी जाति भी है, यह जानना चाहिए। अथवा सेनापति आदि शब्दोंके समान इन्द्र आदि शब्द विशिष्ट स्थानके संबन्धसे प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जो-जो उस-उस स्थानपर आरूढ होता है। उस-उसका इन्द्र आदि शब्दोंसे अभिधान होता है, अतः कोई दोष नहीं है। और जगत् शब्दसे उत्पन्न होता है, यह कथन ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके समान उपादान कारणके अभिप्रायसे नहीं है। तब किस अभिप्रायसे है? नित्य अर्थके साथ संबन्ध रखनेवाला जब नित्य शब्द वाचकस्वरूपसे स्थित रहता है, तभी शब्दव्यवहारयोग्य अर्थकी निष्पत्ति होती है, इस आशयसे शब्दसे उत्पत्ति कही गई है।

रत्नप्रभा

व्यक्तिष्वित्यादिना। आकृतिः—जातिः। का सा व्यक्तिः यदनुगता इन्द्रत्वादिजातिः शब्दार्थः स्यादित्यत आह—**आकृतिविशेषस्त्विति**। "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादिभ्य इत्यर्थः। इन्द्रादिशब्दानां जातिः इन्द्रादिषु प्रवृत्तिनिमित्तमिति उक्त्वा उपाधिनिमित्तत्वमाह—**स्थानेति**। व्यक्तिप्रलयेऽपि स्थानस्य स्थायित्वात् शब्दार्थसम्बन्धनित्यता इत्यत आह—**ततश्चेति**। उक्तं पूर्वापरविरोधं परिहरति—**न चेति**। शब्दो निमित्तमिति अविरोधं मत्वा सूत्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकृति—जाति। यदि कोई कहे कि वह कौनसी व्यक्ति है? जिसके अनुगत होकर इन्द्रत्व आदि जाति शब्दार्थ होती हैं, इसपर कहते हैं—"आकृतिविशेषस्तु" इत्यादि। 'वज्रहस्तः०' इत्यादि मंत्रोंसे ऐसा समझना चाहिए। इन्द्र आदि शब्दोंकी इन्द्र आदिमें प्रवृत्तिके प्रति जातिको निमित्त कहकर अब उपाधिको निमित्त कहते हैं—"स्थान" इत्यादिसे। व्यक्तिका नाश होनेपर भी स्थानके स्थायी होनेसे शब्दार्थसंबन्ध नित्य है, यह कहते हैं—"ततश्च" इत्यादि। जो पूर्वापर विरोध ऊपर कहा गया है, उसका परिहार करते हैं—"न च"

भाष्य

कथं पुनरवगम्यते शब्दात् प्रभवति जगदिति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं हि श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात् । ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः । 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति

भाष्यका अनुवाद

परन्तु शब्दसे जगत् उत्पन्न होता है, यह कैसे माना जाय ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे । प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति, क्योंकि उसके प्रामाण्यके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं होती। अनुमान अर्थात् स्मृति, क्योंकि उसके प्रामाण्यके लिए श्रुतिकी अपेक्षा होती है। ये दोनों प्रमाण यह दिखलाते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्वक है । 'एत इति वै प्रजापति०' ('एते' इस पदसे देवताओंका स्मरण करके प्रजापतिने देवताओंकी सृष्टि, 'असृग्रम्' से मनुष्योंका स्मरण करके मनुष्योंकी, 'इन्दवः' से पितरोंका स्मरण करके पितरोंकी, 'तिरःपवित्रम्' से ग्रहोंका स्मरण करके ग्रहोंकी, 'आशवः' से स्तोत्रका स्मरण करके स्तोत्रकी, 'विश्वानि' से शस्त्रका स्मरण करके शस्त्रकी और 'अभिसौभगा' से अन्य प्रजाओंका स्मरण करके अन्य

रत्नप्रभा

शेषमवतारयति—कथं पुनरिति । स्मृत्या स्वप्रामाण्यार्थं मूलश्रुतिः अनुमीयत इति अनुमानम्—स्मृतिः । "एते असृग्रमिन्दवस्तिरःपवित्रमाशवः विश्वान्यभिसौभगा" [छन्दोगब्राह्मण०] इत्येतन्मन्त्रस्थैः पदैः स्मृत्वा ब्रह्मा देवादीन् असृजत । तत्र एत इति पदं सर्वनामत्वाद् देवानां स्मारकम्, असृग्—रुधिरम्, तत्प्रधाने देहे रमन्ते इति असृग्रा मनुष्याः, चन्द्रस्थानां पितॄणाम् इन्दुशब्दः स्मारकः । पवित्रं सोमस्थानं स्वान्तस्तिरस्कुर्वतां ग्रहाणां तिरःपवित्रशब्दः । ऋचोऽनुवतां स्तोत्राणां गीतिरूपाणाम् आशुशब्दः । "ऋच्यध्यूढं साम" इति श्रुतेः । स्तोत्रानन्तरं प्रयोगं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । शब्द निमित्त कारण है, इसलिए अविरोध है, ऐसा मानकर सूत्रशेषकी अवतरणिका देते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । स्मृति अपने प्रामाण्यके लिए अपनी मूलभूत श्रुतिका अनुमान कराती है, अतः अनुमान स्मृति है । 'एते असृग्रमिन्दव०' इस मंत्रमें स्थित पदोंसे स्मरण करके ब्रह्माने देवता आदिकी सृष्टि की । उनमें 'एते' यह पद सर्वनाम होनेसे देवताओंका स्मारक है । असृग्—रुधिर । रक्तप्रधान देहके अभिमानी असृग्र—मनुष्य । 'असृग्र' शब्द मनुष्योंका स्मारक है । 'इन्दु' शब्द चन्द्रमण्डलमें रहनेवाले पितरोंका स्मारक है । 'तिरःपवित्र' शब्द पवित्र सोमस्थानका अपनेमें तिरस्कार करनेवाले ग्रहोंका स्मारक है । 'आशु' शब्द 'ऋच्यध्यूढं' श्रुतिके अनुसार ऋचामें व्याप्त होनेवाले गानरूप स्तोत्रोंका स्मारक

भाष्य

श्रुतिः । तथाऽन्यत्राऽपि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते । स्मृतिरपि—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥'
(म० भा० शा० २३३।२४) इति ।

उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्याऽसम्भवात् । तथा—

'नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' (मनु० १।२१)

भाष्यका अनुवाद

प्रजाओंकी सृष्टि की) यह श्रुति है । इसी प्रकार दूसरे स्थानपर भी 'स मनसा वाचं०' (प्रजापतिने मनसे त्रयीरूप वाणीका आलोचन किया) इत्यादिसे स्थल-स्थलपर श्रुति शब्दपूर्वक सृष्टिका निर्देश करती है । स्मृति भी 'अनादिनिधना नित्या०' (सृष्टिके आरम्भमें स्वयंभूने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणीका उत्सर्ग किया, जिससे अन्य सृष्टियाँ हुईं) यही निर्देश करती है। वाणीका यह उत्सर्ग भी सम्प्रदायप्रवर्तनस्वरूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वाणीका दूसरे प्रकारसे उत्सर्ग नहीं हो सकता । उसी प्रकार 'नामरूपे च०' (उस महेश्वरने आरम्भमें वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम, रूप और सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति उत्पन्न की) और 'सर्वेषां तु स नामानि०'

रत्नप्रभा

विशतां शस्त्राणां विश्वशब्दः । सर्वत्र सौभाग्ययुक्तानाम् अभिसौभगशब्दः स्मारक इति छन्दोगब्राह्मणवाक्यार्थः । सः प्रजापतिर्मनसा वाचं त्रयीं मिथुनं समभवत् । मनो वाग्रूपं मिथुनं सम्भावितवान् । मनसा त्रयीप्रकाशितां सृष्टिमालोचितवान् इत्यर्थः । "रश्मिरित्येवादित्यमसृजत" इत्यादिश्रुतिः आदिशब्दार्थः । सम्प्रदायः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । 'विश्व' शब्द स्तोत्रके अनन्तर प्रयुक्त होनेवाले शस्त्रोंका स्मारक है । 'अभिसौभगा' शब्द सर्वत्र सौभाग्ययुक्त प्रजाका स्मारक है । प्रजापतिने मनके साथ त्रयीरूप वाणीका मिथुनभाव-संयोजन किया अर्थात् त्रयीसे प्रकाशित सृष्टिकी मनसे आलोचना की । 'आदि' पदसे 'रश्मिरित्येवा०' (रश्मिपदका स्मरणकर आदित्यकी सृष्टि की) इत्यादि वाक्य समझना चाहिए ।

भाष्य

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥' इति च।

अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते? स्फोटमित्याह।

भाष्यका अनुवाद

(उसने आरम्भमें सबके पृथक्-पृथक् नाम और कर्म एवं अवस्थाओंका वेद-शब्दोंसे ही निर्माण किया) ये स्मृतियाँ भी वेदशब्दसे ही सृष्टि दिखलाती हैं। और यह हम सब लोगोंको प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है कि जब कोई पुरुष किसी वस्तुको बनाना चाहता है तब पहले उसके वाचक शब्दका स्मरण करता है और उसके पश्चात् उस वस्तुको बनाता है। उसी प्रकार सृष्टि करनेवाले प्रजापतिके मनमें सृष्टिसे पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए, उसके पश्चात् शब्दके अनुगत अर्थों—वस्तुओंकी भी उसने रचना की, ऐसा समझा जाता है। उसी प्रकार 'स भूरिति०' (उसने 'भू' ऐसा उच्चारण करके पृथिवीकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुति मनमें प्रादुर्भूत हुए भू आदि शब्दोंसे ही भू आदि लोकोंकी सृष्टि दिखलाती है।

शब्दसे जो जगत्‌की सृष्टि कही गई है, वह शब्दको वर्णरूप मानकर कही

रत्नप्रभा

गुरुशिष्यपरम्पराध्ययनम्। संस्थाः—अवस्थाः। प्रजापतिसृष्टिः, शब्दपूर्विका, सृष्टित्वात्, प्रत्यक्षघटादिवदिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यस्य अर्थान्तरमाह—**अपि चेति**। अतःप्रभवत्वप्रसङ्गात् शब्दस्वरूपं वक्तुम् उक्तमाक्षिपति—**किमात्मकमिति**। वर्णरूपं तदतिरिक्तस्फोटरूपं वेति किंशब्दार्थः। तत्र वर्णानाम् अनित्यत्वात् स्फोटस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्प्रदाय—गुरुशिष्यकी परम्परासे चलनेवाला अध्ययन। संस्था—अवस्था। प्रत्यक्ष घटादि-सृष्टिके समान प्रजापतिसृष्टि शब्दपूर्विका है, क्योंकि वह भी सृष्टि है, इस प्रकार सूत्रस्थ 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' पदका दूसरा अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। शब्दसे जगत्‌की सृष्टिके कथनके प्रसङ्गसे—सङ्गतिसे शब्दका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए पूर्वोक्तका आक्षेप करते हैं—

भाष्य

वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात्। उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चाऽन्यथा च प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते—देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति। न चाऽयं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानम्,

भाष्यका अनुवाद

गई है या स्फोटरूप मानकर ? वैयाकरण कहते हैं कि स्फोट मानकर कही गई है। यदि वर्णरूप शब्दसे सृष्टि मानी जाय तो वर्णोंके उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण 'नित्य शब्दोंसे देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है, यह कथन असंगत हो जायगा। वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, जैसे कि किसी अदृश्य पुरुषके अध्ययनकी ध्वनि सुननेसे ही यह विशेष रीतिसे निर्धारण किया जा सकता है कि यह देवदत्त अध्ययन कर रहा है या यज्ञदत्त। और वर्णमें होनेवाली भेदप्रतीति मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

चाऽसत्त्वात् न जगद्धेतुत्वम् इत्याक्षेपे द्वितीयपक्षं वैयाकरणो गृह्णाति—**स्फोटमिति**। स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटो वर्णव्यङ्ग्योऽर्थस्य व्यञ्जको गवादिशब्दो नित्यः, तमभिप्रेत्य इदमुच्यते इति पूर्वेणाऽन्वयः। स एव आद्यपक्षं दूषयति—**वर्णेति**। सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञया वर्णनित्यत्वसिद्धेर्नाऽनुपपत्तिरित्यत आह—**उत्पन्नेति**। तारत्वमन्द्रत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वेन तारो गकारो मन्द्रो गकार इति प्रतीयमानगकार-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"किमात्मकम्" इत्यादिसे। शब्द वर्णरूप है अथवा उससे भिन्न स्फोटरूप है, यह 'किम्' शब्दका अर्थ है। इनमें वर्णके अनित्य होने और स्फोटके वेदान्तमतमें स्वीकृत न होनेके कारण शब्द जगत्का हेतु नहीं है, ऐसा आक्षेप होनेपर वैयाकरण द्वितीयपक्ष—स्फोटपक्षका ग्रहण करते हैं—"स्फोटम्" इत्यादिसे। 'स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटः' (वर्णोंसे व्यक्त होनेवाला स्फोट कहलाता है) इस व्युत्पत्तिसे वर्णोंसे व्यंग्य अर्थका व्यंजक गो आदि शब्द स्फोट है, वह नित्य है, उसीको शब्द मानकर यह कहा गया है, ऐसा पूर्वके साथ अन्वय है। वैयाकरण प्रथम पक्षमें—शब्द वर्णरूप है, इस पक्षमें दोष दिखलाते हैं—"वर्ण" इत्यादिसे। 'सोऽयं गकारः' (यह वही गकार है) इस तरह प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वर्ण नित्य हैं, यह सिद्ध होनेपर कुछ अनुपपत्ति नहीं है, इसपर कहते हैं—"उत्पन्न" इत्यादि। ऊँचा गकार है, धीमा गकार है, इस प्रकार तारत्व, मन्दत्व आदि विरुद्धधर्मसे

भाष्य

बाधकप्रत्ययाभावात्। न च वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता, न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्, व्यभिचारात्। न च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति

भाष्यका अनुवाद

उस प्रतीतिका कोई बाधक ज्ञान नहीं है। और वर्णोंसे अर्थकी अवगति भी नहीं हो सकती है। कारण कि एक-एक वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि अर्थज्ञान का व्यभिचार—अभाव है। उसी प्रकार वर्णके समुदायसे भी अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण क्रमिक हैं। पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभव—श्रवण-से उत्पन्न हुए संस्कारके साथ अन्त्य वर्ण अर्थकी प्रतीति करावेगा, यदि ऐसा

रत्नप्रभा

स्य भेदानुमानात् प्रत्यभिज्ञा गत्वजातिविषया इत्यर्थः। ननु विरुद्धधर्मज्ञानं ध्वन्युपाधिकं भ्रम इत्यत आह—**न चेति**। तथा च वर्णानामनित्यत्वात् न जगद्धेतुत्वमिति भावः। किञ्च, तेषामर्थबोधकत्वायोगात् स्फोटोऽङ्गीकार्य इत्याह—**न च वर्णेभ्य इत्यादिना**। व्यभिचारात् एकस्माद् वर्णादर्थप्रतीत्यदर्शनाद् वर्णान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। तर्हि वर्णानां समुदायो बोधक इत्याशङ्क्य क्षणिकानां स नास्तीत्याह—**न चेति**। वर्णानां स्वतः साहित्याभावेऽपि संस्कारलक्षणापूर्वद्वारा साहित्यम् आग्नेयादियागानामिव इति शङ्कते—**पूर्वेति**। किमयं संस्कारो वर्णैर्जनितोऽपूर्वाख्यः कश्चिद्, उत वर्णानुभवजनितो भावनाख्यः। नाऽऽद्यः, मानाभावात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतीयमान गकारमें भेदका अनुमान होनेसे प्रत्यभिज्ञाका विषय गत्वजाति है, वर्ण नहीं है ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि तारत्व, मन्दत्व आदि जो विरुद्ध धर्म गकारमें प्रतीत होते हैं, वे भ्रमसे होते हैं, क्योंकि वे उपाधि (व्यंजक) भूत ध्वनिके धर्म हैं और वर्णमें भ्रमसे प्रतीत होते हैं, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। आशय यह कि इस प्रकार वर्णोंके अनित्य होनेसे वे जगत्के हेतु नहीं हो सकते हैं। और वर्ण अर्थका बोध नहीं करा सकते हैं, इसलिए स्फोटका अंगीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न च वर्णेभ्यः" इत्यादिसे। 'व्यभिचारात्'—क्योंकि एक वर्णसे अर्थकी प्रतीति नहीं होती और दूसरे वर्ण व्यर्थ होते हैं। तब वर्णोंका समुदाय अर्थबोधक हो, ऐसी आशंका करके वर्णोंके क्षणिक होनेके कारण उनका समुदाय ही नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यद्यपि वर्णोंका स्वतः समुदाय नहीं बन सकता, तो भी जैसे आग्नेय आदि यागोंका अपूर्वद्वारा समुदाय होता है, उसी प्रकार संस्काररूप अपूर्वद्वारा वर्णोंका समुदाय बन सकता है, ऐसी शंका करते हैं—"पूर्व" इत्यादिसे। क्या यह संस्कार वर्णोंसे

भाष्य

यद्युच्येत । तन्न । सम्बन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद् धूमादिवत् । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्याऽन्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात् संस्काराणाम् । कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्, न, संस्कारकार्य-

भाष्यका अनुवाद

कहो, तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि शब्द संकेतग्रहकी अपेक्षा रखता है, इसलिए धूम आदिके समान स्वयं प्रतीत होनेपर अर्थकी प्रतीति करा सकता है । पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारके साथ अंत्य वर्णकी प्रतीति ही नहीं हो सकती है, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष हैं । यदि कोई कहे कि कार्यसे ज्ञापित संस्कारोंसे युक्त अंत्य वर्ण अर्थकी प्रतीति करावेगा, यह कथन भी ठीक नहीं है,

---

रत्नप्रभा

किञ्च, अयम् अज्ञातो ज्ञातो वा अर्थधीहेतुः ? नाऽऽद्य इत्याह—तन्नेति । संस्कारसहितः शब्दो ज्ञात एव अर्थधीहेतुः, सम्बन्धग्रहणमपेक्ष्य बोधकत्वाद्, धूमादिवत् इत्यर्थः । द्वितीये किं प्रत्यक्षेण ज्ञात उत कार्यलिङ्गेन ? नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । द्वितीयं शङ्कते—कार्येति । कार्यम्—अर्थधीः; तस्यां जातायां संस्कारप्रत्ययः, तस्मिन् जाते सा इति परस्पराश्रयेण दूषयति—नेति । पदार्थस्मरणस्याऽपि पदज्ञानानन्तरभावित्वात् तेन संस्कारसहितान्त्यवर्णात्मकपदस्य ज्ञानं न युक्तमित्यक्षरार्थः । अपिशब्दः परस्पराश्रयद्योतनार्थः । एतेन भावनासंस्कारपक्षोऽपि निरस्तः । तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न अपूर्वसंज्ञक संस्कार है अथवा वर्णानुभवसे जन्य भावनासंज्ञक संस्कार है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । और क्या यह संस्कार अज्ञात होकर अर्थका ज्ञान कराता है या ज्ञात होकर ? इनमें पथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तन्न" इत्यादिसे । संस्कारसहित शब्द ज्ञात होकर ही अर्थकी प्रतीति कराता है, क्योंकि वह धूमके समान संबन्धग्रहणकी अपेक्षा रखकर ही बोधक होता है, ऐसा अनुमान है । यदि संस्कार ज्ञात होकर अर्थकी प्रतीति कराता है, तो वह प्रत्यक्षसे ज्ञात होता है अथवा कार्यरूप लिङ्गसे ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"कार्य" इत्यादिसे । कार्य—अर्थज्ञान, अर्थज्ञान होनेपर संस्कारज्ञान होता है और संस्कारज्ञान होनेपर अर्थज्ञान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषसे उसका निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे । अक्षरार्थ यह है कि पदार्थस्मरण पदज्ञानके अनन्तर होता है, इसलिए संस्कारसहित अंत्यवर्णात्मक पदका ज्ञान स्मरणसे नहीं होता । 'संस्कार-

भाष्य

स्याऽपि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्। तस्मात् स्फोट एव शब्दः। स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येक-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि संस्कारका कार्य स्मरण भी क्रमिक है, इसलिए स्फोट ही शब्द है। एक-एक वर्णकी प्रतीतिने जिसमें संस्काररूप बीज डाला है और अंत्य वर्णकी प्रतीतिने जिसमें परिपाक उत्पन्न किया है, ऐसे चित्तमें एक प्रतीतिके

रत्नप्रभा

वर्णस्मृतिमात्रहेतुत्वेन अर्थधीहेतुत्वायोगात्। न चाऽन्त्यवर्णसाहित्याद् अर्थधीहेतुत्वम्, केवलसंस्कारस्य तु वर्णस्मृतिहेतुत्वमिति वाच्यम्। अर्थधीपूर्वकाले भावनाया ज्ञानाभावेन अर्थधीहेतुत्वायोगात्। न च वर्णस्मरणेन अनुमिता सा अन्त्यवर्णसहिता अर्थधीहेतुः इति वाच्यम्। तत्कार्यस्य क्रमिकस्य वर्णस्मरणस्याऽपि अन्त्यवर्णानुभवानन्तरभावित्वेन तेन अनुमितभावनानाम् अन्त्यवर्णसाहित्याभावाद् इति भावः। वर्णानाम् अर्थबोधकत्वासम्भवे फलमाह—**तस्मादिति**। स्फोटेऽपि किं मानम् इत्याशङ्क्य एकं पदमिति प्रत्यक्षप्रमाणम् इत्याह—**स चेति**। यथा रत्नतत्त्वं बहुभिश्चाक्षुषप्रत्ययैः स्फुटं भासते, तथा गवादिपदस्फोटो गकाराद्येकैकवर्णकृतप्रत्ययैः स्फोटविषयैः आहिताः संस्कारा बीजं यस्मिन् चित्ते तस्मिन् अन्त्यवर्णकृतप्रत्ययेन जनितः परिपाकोऽन्त्यः संस्कारो यस्मिन् तस्मिन् प्रत्ययिनि चित्ते एकं गौरिति पदम् इति प्रत्ययः प्रत्यक्षः

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यस्यापि' का 'अपि' पद अन्योन्याश्रयका द्योतक है। इससे भावनासंस्कारपक्षका भी निराकरण हो गया, क्योंकि उससे केवल वर्णस्मृति ही होती है, इसलिए वह अर्थ-प्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता। और केवल संस्कार वर्णस्मृतिका हेतु है और अंत्यवर्णसहित होनेसे वही अर्थ-प्रतीतिका हेतु है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अर्थ-प्रतीति होनेसे पहले भावनाका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह अर्थप्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता। वर्णस्मरणसे अनुमित भावना अंत्यवर्णसाहित होकर अर्थ प्रतीतिमें हेतु होती है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि भावनाका कार्य—क्रमिक स्मरण भी अंत्यवर्णके अनुभवके बाद होता है, इसलिए उस वर्णस्मरणसे अनुमित भावनाओंका अंत्यवर्णके साथ सहयोग नहीं होता, ऐसा अर्थ है। वर्ण अर्थबोधक नहीं है, यह सिद्ध होनेपर प्राप्त फल कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। स्फोटमें भी क्या प्रमाण है, ऐसी आशङ्का करके "स च" इत्यादिसे कहते हैं कि 'एक पद है' यह जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे रत्नोंकी यथार्थता बहुत बार देखनेसे स्पष्टतया प्रतीत होती है, उसी प्रकार गकार आदि प्रत्येक वर्णोंकी प्रतीति द्वारा जिस चित्तमें स्फोटविषयक संस्काररूप बीज डाला गया है और अंत्यवर्णके ज्ञान द्वारा जिसमें परिपाक—

भाष्य

प्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते । न चाऽयमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः, वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः । तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात् । तस्मा- न्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभि- धेयभूतं प्रभवतीति ।

भाष्यका अनुवाद

विषयरूपसे वह स्फोट झट प्रकट होता है। और यह एक प्रतीति वर्णविषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होनेसे एक प्रतीतिके विषय नहीं हो सकते। प्रत्येक उच्चारणमें उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह नित्य है, भेदप्रतीति तो वर्णोंसे संबन्ध रखती है। इसलिए स्फोटरूप नित्य वाचक शब्दसे क्रिया, कारक और फलरूप जगत् उत्पन्न होता है।

रत्नप्रभा

तद्विषयतया स्पष्टम् अवभासते इत्यर्थः । अनेन वर्णान्वयव्यतिरेकयोः स्फोटज्ञानेऽ- न्यथासिद्धिः । न च एकस्माद् वर्णात् सम्यक् स्फोटाभिव्यक्तिः, येन वर्णान्तरवैयर्थ्यम्, किन्तु रत्नतत्त्ववत् बहुप्रत्ययसंस्कृते चित्ते सम्यक् स्फोटाभिव्यक्तिरित्युक्तं भवति । ननु एकं पदम्, एकं वाक्यमिति प्रत्ययः पदवाक्यस्फोटयोर्न प्रमाणम्, तस्य वर्णसमूहालम्बनस्मृतित्वाद् इत्याशङ्क्य निषेधति—**न चेति** । स्फोटस्य जगद्धे- तुत्वार्थं नित्यत्वमाह—**तस्य चेति** । ननु तदेवेदं पदमिति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, उदात्तादिभेदप्रत्ययाद् इत्यत आह—**भेदेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंत्यसंस्कार उत्पन्न हुआ है, उस चित्तमें 'गौः' यह एक पद है' ऐसी प्रतीति जो प्रत्यक्ष है उसके विषयरूपसे स्फोट स्पष्ट भासता है, ऐसा अर्थ है। इससे—वर्णोंके अन्वयव्यतिरेक, स्फोटज्ञानमें उपयोग होनेसे, शाब्दबोधमें अन्यथा सिद्ध हैं। तथा एक वर्णसे स्फोटकी सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं होती जिससे कि द्वितीय आदि वर्ण व्यर्थ हो जायं, परन्तु रत्नके समान बहुत ज्ञान होनेसे संस्कृत चित्तमें सम्यक् स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है,—ऐसा उक्त होता है। परन्तु एक पद और एक वाक्य, ऐसी प्रतीतियाँ पदस्फोट और वाक्यस्फोटकी साधक नहीं हैं, क्योंकि यह प्रतीति वर्णोंकी समूहालम्बनात्मक स्मृति है, ऐसी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे। स्फोटको जगत्का हेतु बनानेके लिए उसे नित्य कहते हैं—"तस्य च" इत्यादिसे। परन्तु 'वही एक पद है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा भ्रम है, क्योंकि उदात्त आदि भेदकी प्रतीति होती है, इसपर कहते हैं—"भेद" इत्यादि।

१ नानाप्रकारतानिरूपित नाना मुख्यविशेष्यक ज्ञान अर्थात् अनेक वस्तुका एक ज्ञान ।

भाष्य

'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः, ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्, न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्, न, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि

भाष्यका अनुवाद

भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण ही शब्द हैं। वर्णोंकी उत्पत्ति और विनाश होता है, यह जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे ही वर्ण हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जैसे सादृश्यसे छिन्नप्ररूढ केश आदिमें प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णोंमें भी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहां प्रत्यभिज्ञाका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यभिज्ञाका कारण आकृति—जाति है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि व्यक्तिका प्रत्यभिज्ञान होता है।

रत्नप्रभा

आचार्यसम्प्रदायोक्तिपूर्वकं सिद्धान्तयति—**वर्णा एवेति**। वर्णातिरिक्तस्फोटात्मकशब्दस्य अनुभवानारोहात् इत्यर्थः। सादृश्यदोषाद् इयं भ्रान्तिरिति शङ्कते—**सादृश्यादिति**। वपनानन्तरं त एव इमे केशा इति धीः भ्रान्तिरिति युक्तम्, भेदधीविरोधात्। स एवाऽयं वर्ण इति धीस्तु प्रमैव बाधकाभावाद् इत्याह—**नेति**। गोत्वादिप्रत्यभिज्ञावद् वर्णेषु प्रत्यभिज्ञा गत्वादिविषया इति शङ्कते—**प्रत्यभिज्ञानमिति**। व्यक्तिभेदे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वं स्यात्, यत्त्वया पीतं जलं तदेव मया पीतमित्यादौ, न तथा इह व्यक्तिभेदः सिद्ध इति परिहरति—**न व्यक्तीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आचार्यसंप्रदाय कहते हुए सिद्धान्त कहते हैं—"वर्णा एव" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि वर्णोंसे अन्य स्फोटात्मक शब्द अनुभवमें आरूढ नहीं होता। वही वर्ण है, ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह सादृश्यदोषसे भ्रान्ति है, ऐसी शङ्का करते हैं—"सादृश्यात्" इत्यादिसे। हजामत करनेके पश्चात् वे ही ये केश हैं, ऐसी प्रतीति भ्रान्ति है, क्योंकि इस प्रत्यभिज्ञाका भेद प्रत्यक्ष बाधक है, ये केश वे ही नहीं है, किन्तु उनके सदृश हैं, इस प्रकार केशोंमें भेदप्रतीति स्पष्ट है, परन्तु 'वही यह वर्ण है' यह प्रतीति तो प्रमा ही है, क्योंकि इस ज्ञानका कोई बाधक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जैसे गो की प्रत्यभिज्ञा गोत्वनिमित्तसे होती है, उसी प्रकार वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा गत्व आदि जातिके निमित्तसे होती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"प्रत्यभिज्ञानम्" इत्यादिसे। व्यक्तिभेद सिद्ध होनेपर प्रत्यभिज्ञा जातिनिमित्तक हो सकती है, जैसे 'जो तुमने जल पिया, वही मैंने पिया' इत्यादिमें है, परन्तु यहां उस तरह व्यक्तिभेद सिद्ध नहीं है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न व्यक्ति" इत्यादिसे।

भाष्य

हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरन्, तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्; न त्वेतदस्ति; वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति। ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते, देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्। अत्राऽभिधीयते—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद् वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनाऽपि प्रत्यभिज्ञान-

भाष्यका अनुवाद

यदि प्रत्येक उच्चारणमें गो आदि व्यक्तिके समान अन्य-अन्य वर्णव्यक्तिकी प्रतीति हो, तो यह माना जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा जातिनिमित्तक है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्णव्यक्तिकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। दो बार 'गो' शब्दका उच्चारण किया, ऐसी प्रतीति होती है, न कि दो गोशब्दोंका उच्चारण किया। परन्तु उच्चारणभेदसे वर्ण भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि देवदत्त और यज्ञदत्तकी अध्ययन ध्वनि सुननेसे उनका भेद प्रतीत होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर कहते हैं—प्रत्यभिज्ञान वर्णसम्बन्धी है, यह निश्चित होनेपर प्रतीत होता है कि [तालु आदि स्थानोंके साथ कोष्ठस्थ वायुके] संयोग और विभागसे वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेके कारण वर्णोंमें जो वैलक्षण्यकी प्रतीति होती है, उसका निमित्त अभिव्यंजक—वायुके संयोग और विभागकी विचित्रता है, स्वरूपकी विचित्रता नहीं

रत्नप्रभा

न त्वेतदिति। व्यक्त्यन्यत्वज्ञानम् इत्यर्थः। उदात्तत्वादिविरुद्धधर्मत्वाद् व्यक्तिभेदोऽनुमानसिद्ध इति अनुवदति—नन्विति। भेदप्रत्ययस्य कुम्भकूपाकाशभेदप्रत्ययवद् औपाधिकभेदविषयत्वाद् अन्यथासिद्धेः अनन्यथासिद्धव्यक्त्यैक्यप्रत्यभिज्ञया निरपेक्षस्वरूपालम्बनया बाध इत्युत्तरमाह—अत्रेति। तात्वादिदेशैः कोष्ठस्थवायुसंयोग-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न त्वेतत्" इत्यादि। 'एतत्'—अन्यवर्णव्यक्तिका ज्ञान। वर्णमें उदात्तत्व आदि विरुद्ध धर्मके रहनेसे व्यक्तिभेद अनुमानसे सिद्ध है, पीछे कही गई इस शंकाका अनुवाद करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। जैसे कुंभाकाश, कूपाकाश, यह प्रतीति उपाधिभेदके कारण होती है, उसी प्रकार वर्णोंमें भेदप्रतीति उपाधिके कारण है, इससे वह अन्यथासिद्ध है, इसलिए एक ही व्यक्ति है, ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा निरपेक्ष वर्णस्वरूपके

भाष्य

सिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः, स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम्। कथं ह्येकस्मिन् काले

भाष्यका अनुवाद

है। और वर्णव्यक्तियोंको भिन्न माननेवालेको भी प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धिके लिए वर्णोंकी जातियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी और उनमें भेदप्रतीति अन्य उपाधिसे होती है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इससे तो यही मानना अच्छा है कि वर्णव्यक्तियोंमें ही अन्य उपाधिसे भेदप्रतीति होती है और प्रत्यभिज्ञा स्वरूपसे ही होती है, इसमें कल्पनालाघव भी है। वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा ही उनमें भेदप्रतीतिका बाध करनेवाला प्रत्यय है। एक ही कालमें बहुत लोगोंसे उच्चारित एक ही गकार

रत्नप्रभा

विभागाभ्यां विचित्राभ्यां व्यङ्ग्यत्वाद् वर्णेषु वैचित्र्यधीः इत्यर्थः। कल्पनागौरवाच्च वर्णेषु स्वतो भेदो नाऽस्तीत्याह—अपि चेति। अनन्ताः गकारादिव्यक्तयः, तासु प्रत्यभिज्ञानार्थं गत्वादिजातयः, तासु चोदात्तत्वादिभेदस्य औपाधिकत्वमिति कल्पनाद् वरं वर्णव्यक्तिभेदमात्रस्य औपाधिकत्वकल्पनमिति व्यक्त्यानन्त्यस्य जातीनां च कल्पनम् अयुक्तमित्यर्थः। ननु भेदस्य बाधकाभावात् न औपाधिकत्वमित्यत आह—एष इति। अस्तु तर्हि प्रत्ययद्वयप्रामाण्याय भेदाभेदयोः सत्यत्वं तत्राऽऽह—कथं हीति। उभयोरेकत्र विरोधाद् भेद औपाधिक एव इत्यर्थः। ननु वायुसंयोगादेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आलम्बनसे होती है और जो अन्यथासिद्ध नहीं है, उस प्रत्यभिज्ञासे भेदप्रतीतिका बोध होता है, इस प्रकार शंकाका उत्तर कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। आशय यह कि तालु आदि देशोंके साथ नाभिमें स्थित वायुके विलक्षण संयोग और विभागोंसे वर्ण व्यंग्य होते हैं, इसलिए वायुमें स्थित उदात्तत्व आदि विचित्रताकी उनमें प्रतीति होती है। और कल्पनामें गौरव होनेके कारण भी वर्णमें स्वतः भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अनन्त गकार आदि व्यक्तियाँ हैं, उनमें प्रत्यभिज्ञाके लिए गत्व आदि जातियाँ हैं और उनमें उदात्तत्व आदि भेद औपाधिक हैं, ऐसी गुरु कल्पनाकी अपेक्षा केवल वर्णव्यक्तिका भेद औपाधिक है, यह लघु कल्पना ही अधिक उपयुक्त है, अनन्त व्यक्तियां और जातियोंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि बाधक कोई न होनेके कारण भेदको औपाधिक मानना आवश्यक नहीं है, इसका समाधान कहते हैं—"एष" इत्यादिसे। तब दोनों प्रतीतियोंके प्रामाण्यके लिए भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानो, इसपर कहते हैं—

भाष्य

बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्—उदात्तश्चाऽनुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्च इति। अथवा ध्वनिकृतोऽयं भेदप्रत्ययो न वर्णकृत इत्यदोषः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः। वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमान-

भाष्यका अनुवाद

एक ही समयमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेदसे अनेकरूप किस प्रकार हो सकेगा। अथवा यह भेदप्रतीति ध्वनिके भेदसे होती है, वर्णके भेदसे नहीं होती, इसलिए दोष नहीं है। ध्वनि किसको कहते हैं? दूरसे सुननेके कारण वर्णभेदको नहीं समझनेवालेके कानमें जो प्रविष्ट होती है और पाससे सुननेवालेके लिए पटुत्व, मृदुत्व आदि भेदोंका वर्णोंमें आरोप करती है, वह ध्वनि है। उससे उदात्त आदि विशेष उत्पन्न होते हैं, वर्णस्वरूपसे

रत्नप्रभा

अतीन्द्रियत्वान्न तद्गतवैचित्र्यस्य उदात्तत्वादेः वर्णेषु प्रत्यक्षारोपः सम्भवति इति अरुचिं वदिष्यन् स्वमतमाह—**अथवेति**। ध्वनिधर्मा उदात्तत्वादयो ध्वन्यभेदाध्यासाद् वर्णेषु भान्ति इत्यर्थः। प्रश्नपूर्वकं ध्वनिस्वरूपमाह—**क इति**। अवतरति स ध्वनिरिति शेषः। वर्णातिरिक्तः शब्दः ध्वनिरित्यर्थः। समीपं गतस्य पुंसः तारत्वमन्दत्वादिधर्मान् स्वगतान् वर्णेषु स एव आरोपयतीत्याह—**प्रत्यासीदतश्चेति**। आदिपदं विवृणोति—**तदिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कथं हि" इत्यादि। अर्थात् भेद और अभेद दोनों एक जगह नहीं रह सकते, अतः भेद औपाधिक ही है। यदि कोई कहे कि वायुसंयोग आदि अतीन्द्रिय हैं, अतः उनमें रहनेवाले उदात्तत्व आदिका जो वैचित्र्य है, उसका वर्णोंमें प्रत्यक्ष आरोप संभव नहीं है, ऐसी अरुचि भाष्यकार कहेंगे, उसीके अनुसार अपना मत कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। अर्थात् ध्वनिका वर्णमें अभेदाध्यास होनेसे उदात्तत्व आदि ध्वनिके धर्म वर्णोंमें प्रतीत होते हैं। प्रश्नपूर्वक ध्वनिका स्वरूप कहते हैं—"कः" इत्यादिसे। 'अवतरति'के बाद 'स ध्वनिः' (वह ध्वनि है) इतना शेष समझना चाहिए। वर्णसे भिन्न शब्द ध्वनि है, ऐसा अर्थ है। समीपस्थ पुरुषके कर्णगोचर ध्वनि तारत्व, मन्दत्व आदि अपने धर्मोंका अपने आप वर्णोंमें आरोप करती है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्यासीदतश्च" इत्यादिसे। 'पटुमृदुत्वादि' के 'आदि'

भाष्य

स्वात्। एवं च सति सालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति, इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात् संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पेरन्। संयोगविभागानां चाऽप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यम्—उदात्तादिभेदेन वर्णानां

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वर्णोंका प्रत्येक उच्चारणमें प्रत्यभिज्ञान होता है। ऐसा होनेसे उदात्त आदि प्रतीतियाँ आलम्बनसहित होंगी। अन्यथा वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण उनमें भेद न होनेसे उदात्त आदि विशेष—भेद संयोग और विभागसे होते हैं, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। संयोग और विभाग अप्रत्यक्ष हैं, अतः वर्णोंमें उनके भेदका आरोप नहीं किया जा सकता, इससे यह उदात्त आदि प्रतीति निराधार ही हो जायगी। और वर्णोंकी 'वही यह गकार है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे

रत्नप्रभा

ननु अव्यक्तवर्ण एव ध्वनिः न अतिरिक्त इत्यत आह—**वर्णानामिति**। प्रत्युच्चारणं वर्णा अनुवर्तन्ते ध्वनिर्व्यावर्तते इति भेद इत्यर्थः। अन्यथा वाचिकेषु जप्यवर्णेषु अव्यक्तेषु ध्वनिबुद्धिः स्याद्, दुन्दुभ्यादिध्वनौ शब्दत्वमात्रेण गृह्यमाणे अयमव्यक्तो वर्ण इति धीः स्यादिति मन्तव्यम्। एवं ध्वन्युपाधिकत्वे स्वमते गुणं वदन् वायूपाधिकत्वे पूर्वोक्ताम् अरुचिं दर्शयति—**एवं चेत्यादिना**। अस्तु को दोषः, तत्राऽऽह—**संयोगेति**। वायुसंयोगादेः अश्रावणत्वात् इत्यर्थः। तस्मात् श्रावणध्वनिरेव उदात्तत्वाद्यारोपोपाधिरिति भावः। एवं विरुद्धधर्मकध्वनीनां भेदेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदका विवरण करते हैं—"तद्" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अव्यक्त वर्ण ही ध्वनि है, उससे भिन्न नहीं है, इसपर कहते हैं—"वर्णानाम्" इत्यादि। अर्थात् प्रत्येक उच्चारणमें वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है और ध्वनिकी अनुवृत्ति नहीं होती, इससे ध्वनि और वर्णमें भेद है। यदि ऐसा न हो तो अवाचिक जपमें जो अव्यक्त वर्ण हैं, उनमें ध्वनिबुद्धि हो जायगी और दुन्दुभि आदिकी ध्वनि जो केवल शब्दरूपसे सुनी जाती है उसमें 'यह अव्यक्त वर्ण है' ऐसी बुद्धि हो जायगी। इस प्रकार ध्वनिको उपाधि माननेपर स्वमतमें लाभ कहते हुए भाष्यकार वायुको उपाधि माननेमें पूर्वोक्त अरुचि दिखलाते हैं—"एवं च" इत्यादिसे। भले ऐसा हो, उसमें दोष क्या है, इसपर कहते हैं—"संयोग" इत्यादि। [अप्रत्यक्षत्वात्] अर्थात् वायु-संयोग आदिके श्रवणगोचर न होनेके कारण। इसलिए श्रवणगोचर ध्वनि ही वर्णोंमें उदात्तत्व आदिके आरोपमें

भाष्य

प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेत् इति। नह्यन्यस्य भेदेनाऽन्यस्याऽभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चाऽर्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटकल्पनाऽनर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटं प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति

भाष्यका अनुवाद

उदात्त आदि भेदोंसे उनका भेद होगा, ऐसा आग्रह करना ठीक नहीं है, क्योंकि एकके भेदसे दूसरे अभिन्न पदार्थका भेद नहीं हो सकता। व्यक्तिके भेदसे जाति भिन्न है, ऐसा कोई भी नहीं मानता। और वर्णोंसे अर्थप्रतीतिका संभव होनेसे स्फोटकी कल्पना व्यर्थ है। मैं स्फोटकी कल्पना नहीं करता, किन्तु उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, क्योंकि एक-एक वर्णके ग्रहणसे जिसमें संस्कार हुआ है,

रत्नप्रभा

न तेषु अनुगता वर्णा भिद्यन्ते इति उक्तम्, तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—**अपि चेति**। यथा खण्डमुण्डादिविरुद्धानेकव्यक्तिषु अभिन्नं गोत्वम्, तथा ध्वनिषु वर्णा अभिन्ना एव इत्यर्थः। उदात्तादिर्ध्वनिः, तद्भेदेन हेतुना वर्णानामपि इति योजना। प्रत्यभिज्ञाविरोधादिति अक्षरार्थः। यद्वा, उदात्तत्वादिभेदविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद् वर्णानां भेद इत्याशङ्कां दृष्टान्तेन निरस्यति—**अपि चेति**। वर्णानां स्थायित्वं प्रसाध्य तेषामेव वाचकत्वं वक्तुं स्फोटं विघटयति-**वर्णेभ्यश्चेति**। कल्पनामसहमान आशङ्कते—**नेति**। चक्षुषा दर्पणयुक्तायां बुद्धौ मुखवत् श्रोत्रेण वर्णयुक्तायां बुद्धौ विनैव हेत्वन्तरं स्फोटः प्रत्यक्ष इत्याह—**झटितीति**। यस्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण है यह तात्पर्य है। इस प्रकार विरुद्ध धर्मवाली ध्वनिके भिन्न होनेपर भी उसमें अनुगत वर्ण भिन्न नहीं होते, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसीको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जैसे खण्ड-मुण्ड आदि विरुद्ध—परस्पर भिन्न अनेक गोव्यक्तियोंमें गोत्व अभिन्न है, वैसे ध्वनिमें वर्ण अभिन्न ही हैं, ऐसा अर्थ है। उदात्त आदि—ध्वनि। ध्वनिभेदरूप कारणसे वर्णोंका भी भेद हो, ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा उदात्तत्व आदि भेदोंसे विशिष्टरूपसे ज्ञात होनेके कारण वर्ण भिन्न हैं, इस आशङ्काका दृष्टान्तपूर्वक निरसन करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। प्रत्यभिज्ञासे वर्णोंका नित्यत्व सिद्ध करके उनको ही वाचक कहनेके लिए स्फोटका निराकरण करते हैं—"वर्णेभ्यश्च" इत्यादिसे। कल्पनाको न सहता हुआ वादी आशङ्का करता है—"न" इत्यादिसे। जैसे नेत्र द्वारा दर्पणयुक्त बुद्धिमें मुखका प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही श्रोत्र द्वारा वर्णयुक्त बुद्धिमें अन्य हेतुके बिना ही स्फोटका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहता है—"झटिति" इत्यादिसे। जिस ज्ञानमें जो अर्थ भासता है, वह ज्ञान उसमें

भाष्य

प्रत्यवभासनादिति चेत्, नः अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नाऽर्थान्तरविषया। कथमेतदवगम्यते ? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात् ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्, न तु तथाऽस्ति। तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः। नन्वनेकत्वात् वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम्, तत्प्रतिब्रूमः—सम्भव-

भाष्यका अनुवाद

उस बुद्धिमें स्फोटका जल्दी प्रत्यवभास होता है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह बुद्धि भी वर्णविषयक है। एक-एक वर्णका ग्रहण होनेके अनन्तर 'गौः' (गाय) यह जो एक बुद्धि होती है, वह समस्त वर्णविषयक है, अर्थान्तरविषयक नहीं है। यह कैसे समझा जाय ? इससे कि इस बुद्धिमें भी गकार आदि वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है, दकार आदिकी नहीं। यदि दकार आदिसे अन्य स्फोटरूप अर्थ इस बुद्धिका विषय हो, तो उस बुद्धिसे दकार आदिके समान गकार आदि भी हट जायँगे, परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए यह एक बुद्धि वर्णविषयक ही स्मृति है। परन्तु वर्णोंके अनेक होनेसे वे एक बुद्धिके विषय हों, यह युक्त नहीं है, ऐसा कहा है। उसका निराकरण

रत्नप्रभा

संविदि योऽर्थो भासते सा तत्र प्रमाणम्। एकं पदमिति बुद्धौ वर्णा एव स्फुरन्ति, न अतिरिक्तस्फोटः इति न सा स्फोटे प्रमाणमित्याह—**नाऽस्या अपीत्यादिना**। ननु गोपदबुद्धेः स्फोटो विषयः, गकारादीनां तु व्यञ्जकत्वाद् अनुवृत्तिरित्यत आह—**यदि हीति**। व्यङ्ग्यवह्निबुद्धौ व्यञ्जकधूमानुवृत्तेः अदर्शनाद् इत्यर्थः। वर्णसमूहालम्बनत्वोपपत्तेर्न स्फोटः कल्पनीयः पदार्थान्तरकल्पनागौरवादित्याह—**तस्मादिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण है, 'एक पद है' ऐसी बुद्धिमें वर्ण ही भासित होते हैं, उनसे अतिरिक्त स्फोटका भान नहीं होता, इसलिए स्फोटमें वह बुद्धि प्रमाण नहीं है, ऐसा [उत्तर] कहते हैं—"नास्या अपि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि 'गोपद' इस बुद्धिका स्फोट विषय है, गकार आदि तो व्यंजक होनेसे अनुवृत्त होते हैं, इसपर कहते हैं—"यदि हि" इत्यादि। जैसे कि व्यंग्य वह्निबुद्धिमें व्यंजक धूमकी अनुवृत्ति देखनेमें नहीं आती, ऐसा समझना चाहिए। वर्णोंका समूहालम्बन उपपन्न है, इससे स्फोटकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थकी

भाष्य

त्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्, पङ्क्तिर्वनं सेना दश शतं सहस्रमित्यादि-दर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वे-कार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राऽऽह—यदि

भाष्यका अनुवाद

करते हैं—अनेक भी एक बुद्धिके विषय होते हैं, क्योंकि पंक्ति, वन, सेना, दश, शत, सहस्र इत्यादिमें स्पष्टतया अनेक एक बुद्धिके विषय दिखाई देते हैं। 'गौः' यह एक शब्द है, ऐसी जो बुद्धि है, वह वन, सेना आदि बुद्धिके समान बहुत वर्णोंमें एकार्थबोधकत्वरूप कारणसे गौणतया प्रयुक्त होती है। यहाँ कहते हैं—

रत्नप्रभा

अनेकस्याऽपि औपाधिकम् एकत्वं युक्तमित्याह—सम्भवतीति। ननु तत्र एकदेशादिः उपाधिरस्ति प्रकृते क उपाधिरित्यत आह—या त्विति। एकार्थे शक्तमेकं पदम्, प्रधानार्थे एकस्मिन् तात्पर्यवदेकं वाक्यमित्येकार्थसम्बन्धादेकत्वोपचार इत्यर्थः। न च एकपदत्वे ज्ञाते एकार्थज्ञानम्, अस्मिन् ज्ञाते तत् इत्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। उत्तमवृद्धोक्तानां वर्णानां क्रमेण अन्त्यवर्णश्रवणानन्तरं बालस्य एकस्मृत्यारूढानां मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्यादिलिङ्गानुमितैकार्थधीहेतुत्वनिश्चये सति ऐकपदवाक्यत्वनिश्च-यात्। वर्णसाम्येऽपि पदभेददृष्टेर्वर्णातिरिक्तं पदं स्फोटाख्यमङ्गीकार्यमिति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कल्पनामें गौरव होता है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। बहुतोंका भी औपाधिक एकत्व हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"सम्भवति" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि दृष्टान्तमें एकदेश उपाधि है, प्रकृतमें कौन उपाधि है। इसपर कहते हैं—"या तु" इत्यादि। जिसकी एक अर्थमें शक्ति हो, वह एक पद है अर्थात् अभिधावृत्तिसे जो एक अर्थ का वाचक हो, वह एक पद है, एक प्रधान अर्थमें जिसका तात्पर्य हो, वह एक वाक्य है, इस प्रकार अनेकका एक अर्थके साथ सबन्ध होनेसे अनेकमें एकत्वका उपचार समझना चाहिए। कोई शङ्का करे कि एक पदका ज्ञान होनेपर एक अर्थका ज्ञान होता है और एक अर्थका ज्ञान होनेसे एक पदका ज्ञान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उत्तम वृद्धसे उच्चारित वर्णोंमें क्रमसे अंत्य वर्ण सुननेके बाद बालककी एक स्मृतिमें सब वर्ण आरूढ़ हो जाते हैं और मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखकर उससे अनुमान करके बालक ये वर्ण अर्थके ज्ञानके हेतु हैं, ऐसा निश्चय करता है, अतः एक पद तथा एक वाक्यका निश्चय होता है। परन्तु वर्णोंके समान होनेपर भी पदका भेद दिखाई देता है, इसलिए वर्णोंसे अतिरिक्त पदरूप स्फोटका स्वीकार

भाष्य

वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युः, ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्, त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्ण-

भाष्यका अनुवाद

यदि वर्ण ही सब मिलकर, एक बुद्धिके विषय होकर पद होते हों, तो जारा, राजा, कपि, पिक इत्यादिमें भिन्न पदकी प्रतीति न होनी चाहिये। क्योंकि उन्हीं वर्णोंका दोनों स्थलों पर अवभास होता है। इसपर कहते हैं—यद्यपि शब्दमें सब वर्णोंका भान होता है, तो भी जैसे क्रमके अनुसार ही चींटियोंमें पंक्तिकी प्रतीति होती है, वैसे क्रमिक वर्णोंमें ही पदबुद्धि होती है। इस प्रकार वर्णोंमें यद्यपि भेद नहीं है, तो भी भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न पदकी प्रतीति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है। क्रम आदिके अनुसार ग्रहण किये हुए उन वर्णोंका वृद्ध व्यवहारमें भिन्न-भिन्न अर्थोंके साथ संबन्ध ग्रहण किया जाता है, इसलिए अपने व्यवहारमें भी एक-एक वर्णका ग्रहण होने

रत्नप्रभा

अत्राहेति। क्रमभेदाद् वर्णेष्वेव पदभेददृष्टिरिति परिहरति—अत्रेति। ननु नित्यविभूनां वर्णानां कथं क्रमः? कथं वा पदत्वज्ञानेन अर्थधीहेतुत्वं तत्राऽऽह—वृद्धेति। व्युत्पत्तिदशायाम् उच्चारणक्रमेण उपलब्धिक्रममुपलभ्यमानवर्णेषु आरोप्य एते वर्णा एतत्क्रमैतत्संख्यावन्त एतदर्थशक्ता इति गृहीताः सन्तः श्रोतुः प्रवृत्तिकाले तथैव स्मृत्यारूढाः स्वस्वार्थं बोधयन्ति इत्यर्थः। स्थायिवर्ण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना चाहिए, ऐसी शङ्का करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। परन्तु नित्य और विभु वर्णोंका क्रम कैसे हो सकता? और वर्णोंमें पदत्वज्ञान होनेसे वे अर्थ ज्ञानके प्रति कारण किस प्रकार हो सकते हैं? इसपर कहते हैं—"वृद्ध" इत्यादिसे। व्युत्पत्तिदशामें बालक वृद्धव्यवहारको देखकर, उच्चारण-क्रमसे उपलब्धि-क्रमका वर्णोंमें आरोप करके ये वर्ण जब इस क्रममें और इतने ही हों, तब इस अर्थके वाचक हो सकते हैं, ऐसा समझता है और इस प्रकार समझे हुए वर्ण श्रोताके प्रवृत्तिकालमें और उसी प्रकार स्मृतिमें प्रविष्ट होकर अपने-अपने अर्थका बोध

भाष्य

ग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना । स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च । वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात् । अथाऽपि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता, सा सामान्येषु संचारयितव्या । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

पर समस्तका अवमर्श करनेवाली बुद्धिमें वैसे ही भासते हुए भिन्न-भिन्न अर्थोंका ठीक-ठीक उसी प्रकार ज्ञान कराते हैं, वर्णवादीकी इस कल्पनामें बड़ा लाघव है । स्फोटवादीके मतमें तो दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना होगी । क्रमसे गृहीत ये वर्ण स्फोटकी अभिव्यक्ति करते हैं, और स्फोट अर्थको व्यक्त करता है, इस कल्पनामें बड़ा गौरव है । यदि प्रत्येक उच्चारणमें वर्ण अन्य-अन्य होते हैं, ऐसा स्वीकार करें, तो भी प्रत्यभिज्ञाके आधार पर वर्णगत जाति अवश्य माननी पड़ेगी, इससे वर्णोंमें अर्थप्रतिपादन करनेकी जो प्रक्रिया बनाई गई है, वही वर्णसामान्यमें लेनी पड़ेगी । इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य शब्दोंसे देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥२८॥

रत्नप्रभा

वादम् उपसंहरति—**वर्णेति** । दृष्टम्—वर्णानाम् अर्थबोधकत्वम्, अदृष्टः—स्फोटः । सम्प्रति वर्णानाम् अस्थिरत्वम् अङ्गीकृत्य प्रौढिवादेन स्फोटं विघटयति—**अथापीति** । स्थिराणि गत्वादिसामान्यानि क्रमविशेषवन्ति गृहीतसङ्गतिकानि अर्थबोधकानीति क्लृप्तेषु सामान्येषु प्रक्रिया सञ्चारयितव्या न त्वक्लृप्तः स्फोटः कल्पनीय इत्यर्थः । वर्णानां स्थायित्ववाचकत्वयोः सिद्धौ फलितमाह—**ततश्चेति** ॥२८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कराते हैं, ऐसा अर्थ है । वर्ण नित्य हैं इस सिद्धान्तका उपसंहार करते हैं—''वर्ण'' इत्यादिसे । दृष्ट—वर्णोंका अर्थबोधकत्व, अदृष्ट—स्फोट । प्रथम वर्णोंकी नित्यता स्वीकार करके स्फोटका निराकरण किया गया है, अब वर्णोंका अनित्यत्व स्वीकार करके तर्कसे स्फोटका निराकरण करते हैं—''अथापि'' इत्यादिसे । गत्व आदि जातियाँ नित्य हैं, क्रमविशेषसे प्रयुक्त उनमें संगतिका ग्रहण होनेपर वे अर्थबोध कराती हैं, इसलिए क्लृप्त—प्रसिद्ध सामान्यमें ही उक्त प्रक्रियाका संचार करना चाहिए, असिद्ध स्फोटकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, ऐसा अर्थ है । वर्णकी नित्यता और वाचकताके सिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—''ततश्च'' इत्यादिसे ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, नित्यत्वम् ।

पदार्थोक्ति—अत एव च—देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वादेव, नित्यत्वम्—अजन्यत्वम् [वेदस्य प्रत्येतव्यम्] ।

भाषार्थ—देवता आदि सब जगत् वेदशब्दोंसे उत्पन्न होता है, इसीसे वेद नित्य है, ऐसा समझना चाहिए ।

भाष्य

कर्तुरस्मणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दनित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् ।

भाष्यका अनुवाद

कर्ताका स्मरण आदि न होनेसे वेदकी नित्यता सिद्ध होनेपर देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति माननेसे उक्त वेदकी नित्यता नहीं बन सकेगी, इस आशङ्काका 'अतः प्रभवात्' से परिहार करके अब पूर्वसिद्ध उसी वेदनित्यताको दृढ़ करते हैं—'अत एव च नित्यत्वम्' से। इसीसे—नियत आकृतिवाले देव आदि जगत्‌की वेदशब्दसे उत्पत्ति होनेके कारण वेदशब्दमें नित्यता समझनी

रत्नप्रभा

पूर्वतन्त्रवृत्तानुवादपूर्वकं सूत्रं व्याचष्टे—**कर्तुरित्यादिना** । पूर्वतन्त्रसिद्धमेव वेदस्य नित्यत्वम्, देवादिव्यक्तिसृष्टौ तद्वाचकशब्दस्याऽपि सृष्टेरसिद्धमित्याशङ्क्य नित्याकृतिवाचकात् शब्दाद् व्यक्तिजन्मोक्त्या सांकेतिकत्वं निरस्य वेदः अवान्तरप्रलयावस्थायी, जगद्धेतुत्वात्, ईश्वरवदित्यनुमानेन द्रढयति इत्यर्थः । यज्ञेन—

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वमीमांसाम कथित विषयका अनुवाद करते हुए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"कर्तुः" इत्यादिसे। आशय यह कि पूर्व मीमांसामें वेदका नित्यत्व सिद्ध किया गया है, किन्तु देवता आदि व्यक्तियोंकी सृष्टि होनेपर उनके वाचक शब्दोंकी भी सृष्टि माननी पड़ेगी, अतः उक्त वेदका नित्यत्व असिद्ध हो जायगा, ऐसी शंका कर नित्य जातिके वाचक शब्दसे व्यक्तिकी उत्पत्ति कही गई है, अतः वैदिकशब्द सांकेतिक नहीं है, इस प्रकार उस शंकाका निराकरण करके 'वेद अवान्तर प्रलयमें रहता है, जगत्‌का कारण होनेसे, ईश्वरके समान' इस अनुमानसे वेदके नित्यत्वको दृढ़ करते हैं। यज्ञ अर्थात् पूर्वपुण्यसे,

भाष्य

तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥' इति॥ २९॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए[1]। उसी प्रकार 'यज्ञेन वाचः पदवीय०' (याज्ञिकोंने पहले यज्ञद्वारा वेदको ग्रहण करनेकी योग्यता प्राप्त की, पश्चात् ऋषियोंमें विद्यमान उस वेदरूप वाणीको पाया) यह मंत्र भी पूर्वसिद्ध वेदरूप वाणीकी प्राप्ति दिखलाता है। और श्री वेदव्यास भी ऐसा ही कहते हैं—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्०' (प्राचीन कालमें महर्षियोंने ब्रह्माकी अनुज्ञा पाकर युगके अन्तमें गुप्त हुए इतिहाससहित वेदोंको तपसे प्राप्त किया)॥ २९॥

रत्नप्रभा

पूर्वसुकृतेन, वाचः—वेदस्य, लाभयोग्यतां प्राप्ताः सन्तो याज्ञिकाः ताम् ऋषिषु स्थितां लब्धवन्त इति मन्त्रार्थः। अनुविन्नाम्—उपलब्धाम्। पूर्वम्—अवान्तर-कल्पादौ॥ २९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाचः—वेदका, ग्रहणयोग्यताको प्राप्त हुए याज्ञिकोंने ऋषियोंमें विद्यमान उस वाणीको प्राप्त किया, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। अनुविन्न—उपलब्ध। पूर्वमें—अवान्तर कल्पके आदिमें॥ २९॥

(१) 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्' इत्यादि श्रुतिके पर्यालोचनसे आकाश आदिके समान वेदको परमेश्वरसृष्ट माननेपर भी वेद-नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं होता। जैसे अध्यापक, अध्येता इत्यादि व्यवहारकालमें वेदकी स्मृतिके जनकसंस्कारवाले पुरुष रहते हैं, इसी प्रकार प्रलयकालमें भी उत्तरकल्पमें वेदका स्मरण होनेके लिए तदनुकूल संस्कारवाले पुरुषकी सत्ता माननेसे वेदनित्यत्व सिद्ध होता है। सृष्टिके आरम्भमें वेदवाक्यके स्मरणके बिना पूर्वकल्पीय पदार्थोंके अनुसन्धानसे होनेवाली वर्तमान कल्पकी सृष्टि हो ही नहीं सकती, अतः पूर्वकल्पमें अनुभूत वेदका स्मरण अवश्य मानना चाहिए। वह स्मरण प्रलयकालमें पुरुषगत सूक्ष्म संस्कार माननेसे ही उपपन्न होता है, अन्यथा नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रलयकालमें भी वेदस्मृत्यनुकूल संस्कारवाले पुरुषके होनेके कारण वेद नित्य ही है। इससे किसी वादीका यह कथन—'कर्ताका अस्मरण असिद्ध है, क्योंकि "मन्त्रकृतो वृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादि वाक्योंसे संहिता आदिके कर्ता वेदप्रतिपादित हैं'—भी निरस्त हो गया। 'मंत्रकृतो०' इत्यादि वाक्योंका—कल्पके आदिमें उत्पन्न उन-उन ऋषियोंके पुण्यविशेषसे जन्मान्तरमें अधीत वेदका स्वतः ही स्मरण होता है—इस अभिप्रायसे व्याख्यान करना चाहिए।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

पदच्छेद—समाननामरूपत्वात्, च, आवृत्तौ, अपि, अविरोधः, दर्शनात्, स्मृतेः, च ।

पदार्थोक्ति—आवृत्तावपि—सृष्टिप्रलययोरावृत्तावपि, समाननामरूपत्वाच्च—उत्तरकल्पप्रपञ्चस्य पूर्वकल्पसमाननामरूपत्वादेव, अविरोधः—शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वरूपविरोधो नास्ति, [प्रपञ्चस्य समाननामरूपत्वं च] दर्शनात्—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिश्रुतेः, स्मृतेश्च—'यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु' इत्यादिस्मृतेश्च [अवगम्यते] ।

भाषार्थ—सृष्टि-प्रलयकी प्रवाहपरम्पराके चलते रहनेपर भी उत्तर कल्पके समान ही नाम, रूपके होनेके कारण शब्द और अर्थके संबन्धका अनित्यतारूप विरोध नहीं हो सकता है । सृष्टि समान नाम-रूपवाली है, यह 'धाता यथा०' (जैसे पूर्वकल्पमें सूर्य, चन्द्रमा आदि जगत् था, उसी प्रकार उत्तर कल्पमें भी परमेश्वरने सृष्टि की) इत्यादि श्रुतिसे और 'यथर्तुष्वृतु०' (जैसे उन-उन ऋतुओंमें प्रतीयमान अनेक तरहके नवपल्लवोद्गम आदि ऋतुलिङ्ग ही ऋतुओंकी पुनरावृत्तिमें देखे जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वकल्पके समान पदार्थ ही उत्तरोत्तर सृष्टिमें देखे जाते हैं) इत्यादि स्मृतिसे जाना जाता है ।

भाष्य

अथापि स्यात्, यदि पश्वादिव्यक्तिवद् देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात् सम्ब-

भाष्यका अनुवाद

यह होता, यदि पशु आदि व्यक्तियोंके समान देवता आदि व्यक्तियोंके भी उद्भव और लय अविच्छिन्न होते, तो नाम, विषय और वक्ताके व्यवहारका विच्छेद न होनेके

रत्नप्रभा

ननु महाप्रलये जातेरपि असत्त्वात् शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**समानेति** । सूत्रनिरस्यां शङ्कामाह—**अथापीति** । व्यक्तिसन्तत्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु महाप्रलयमें[1] जातिके भी नष्ट हो जानेसे शब्द और अर्थका संबन्ध अनित्य हो जायगा, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"समान" इत्यादिसे । सूत्रसे हटाई जानेवाली शंकाको

(१) प्रजापति आदि सबका जिसमें देहवियोग होता है और केवल प्रकृति अवशिष्ट रहती है, ऐसा काल ।

भाष्य

न्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत । यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाऽभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति ।

भाष्यका अनुवाद

कारण संबन्ध नित्य रहनेसे शब्दमें विरोधका परिहार हो जाता, परन्तु जब श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं कि सकल त्रैलोक्य नाम और रूपका परित्याग करके समूल नष्ट हो जाता है और फिर नया उत्पन्न होता है, तब अविरोध किस प्रकार है ? ऐसी शङ्का होती है ।

रत्नप्रभा

जातीनाम् अवान्तरप्रलये सत्त्वात् संबन्धस्तिष्ठति, व्यवहाराविच्छेदाद् ज्ञायते चेति वेदस्य अनपेक्षत्वेन प्रामाण्ये न कश्चिद् विरोधः स्यात् । निर्लेपलये तु सम्बन्धनाशात् पुनः सृष्टौ केनचित् पुंसा संकेतः कर्तव्य इति पुरुषबुद्धिसापेक्षत्वेन वेदस्य अप्रामाण्यम् , अध्यापकस्य आश्रयस्य नाशाद् आश्रितस्य अनित्यत्वं च प्राप्तमित्यर्थः । महाप्रलयेऽपि निर्लेपलयोऽसिद्धः, सत्कार्यवादात् । तथा च संस्कारात्मना शब्दार्थतत्सम्बन्धानां सतामेव पुनः सृष्टौ अभिव्यक्तेः न अनित्यत्वम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथापि" इत्यादिसे । अवान्तरप्रलय[1]में व्यक्तियोंके सतत—अविच्छिन्न होनेसे जाति भी रहती है, इसलिए उनका संबन्ध भी रहता है और व्यवहारका विच्छेद न होनेसे सम्बन्धका ज्ञान भी होता है । इसलिए वेदकी अन्यानपेक्ष प्रमाणतामें कोई विरोध नहीं होता । परन्तु महाप्रलयमें उस संबन्धका विच्छेद हो जानेसे पुनः सृष्टि होनेपर संकेत करनेवाले किसी पुरुषकी अपेक्षा होती है, ऐसी कल्पनामें पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा रखनेके कारण वेद अप्रमाण हो जायँगे । अध्यापकरूप आश्रयका नाश होनेसे उस आश्रयमें रहनेवाले वेद भी अनित्य हो जायँगे ऐसा तात्पर्य है । महाप्रलयमें भी जगत्‌का समूल नाश नहीं हो सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद माना गया है । इसलिए संस्काररूपसे शब्द, अर्थ और उनके सबन्ध रहते ही हैं, पुनः सृष्टिमें उन्हींकी अभिव्यक्ति होती है, अतः वेद अनित्य नहीं है ।

(१) प्रजापतिका सुषुप्तिकाल ।

भाष्य

तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्याऽनादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाऽऽचार्यः संसारस्याऽनादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद् विरोधः। एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः

भाष्यका अनुवाद

उसपर कहते हैं—'समाननामरूपत्वाद्' इत्यादि। तब भी संसारको अनादि मानना ही चाहिए। और आचार्य 'उपपद्यते०' इस सूत्रमें संसारकी अनादिताका प्रतिपादन करेंगे। और संसारको अनादि माननेपर सुषुप्ति और जाग्रद्वस्थामें प्रलय और उत्पत्तिके होनेपर भी जैसे पूर्व जाग्रद्वस्थाके समान ही उत्तर जाग्रदवस्थामें व्यवहार होनेमें कोई विरोध नहीं होता है, उसी प्रकार पूर्व कल्पके लय और उत्तर कल्पकी उत्पत्तिमें भी वेद-नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। तथा सुषुप्ति और जाग्रत्में संसारके प्रलय और उद्भव श्रुतिमें कहे गये हैं—'यदा सुप्तः न कंचन स्वप्नं०' (जब सुप्त पुरुष कुछ भी

रत्नप्रभा

अभिव्यक्तानां पूर्वकल्पीयनामरूपसमानत्वात् न संकेतः केनचित् कार्यः, विषमसृष्टौ हि संकेतापेक्षा न तुल्यसृष्टौ इति परिहरति—**तत्रेदमित्यादिना**। ननु आद्यसृष्टौ संकेतः केनचित् कार्य इत्यत आह—**तदापीति**। महासर्गप्रलयप्रवृत्तौ अपि इत्यर्थः। ननु अस्तु अनादिसंसारे सम्बन्धस्य अनादित्वम्, तथापि महाप्रलयव्यवधानादस्मरणे कथं वेदार्थव्यवहारः? तत्राऽऽह—**अनादौ चेति**। न कश्चिद् विरोधः शब्दार्थसम्बन्धस्मरणादेरिति शेषः। स्वापप्रबोधयोर्लयसर्गसिद्धि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिव्यक्त पदार्थ पूर्वकल्पस्थित नाम-रूपके समान नाम-रूपवाले ही हैं, अतः किसी मनुष्यके संकेतकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि विषम सृष्टिमें संकेतकी आवश्यकता होती है, तो भी समान सृष्टिमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। प्रथम सृष्टिमें तो किसी पुरुषके संकेतकी अपेक्षा है, इसपर कहते हैं—"तदापि" इत्यादि। 'तदापि'—महाप्रलय और महासृष्टिका अंगीकार करने पर भी। यदि कोई कहे कि संसार अनादि रहे तथा शब्द और अर्थका संबन्ध भी अनादि रहे, तो भी महाप्रलयसे व्यवधान होनेके कारण वेदका स्मरण न होनेसे, तो वेदार्थ व्यवहार किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"अनादौ च" इत्यादि। 'न कश्चिद्विरोधः' के बाद 'शब्दार्थसम्बन्धस्मरणादेः' (शब्द, अर्थ और उनके संबन्धोंके स्मरण आदिका) इतना शेष समझना चाहिए। सुषुप्ति और

भाष्य

परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदेवाऽनुकल्पादौ प्रादुर्भवतां पारमैश्वर्यं श्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चाऽतीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥'

भाष्यका अनुवाद

उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही मनुष्य आदिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदिकी अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक होती है, ऐसा श्रुति और स्मृतिके वचनोंसे बारंबार सुनाई देता है, उसका अपलाप नहीं कर सकते। इसलिए विगत कल्पमें जिन्होंने सर्वोत्तम ज्ञान और कर्मोंका अनुष्ठान किया है और वर्तमान कल्पके आरंभमें जो प्रादुर्भूत हुए हैं, उन हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंको परमेश्वरके अनुग्रहसे सुषुप्तिसे जागे हुए पुरुषके समान अन्य कल्पके व्यवहारोंका स्मरण होना युक्त है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति०' (पूर्वमें जो ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव कराता है, मुमुक्षु मैं स्वात्मरूपसे बुद्धिमें प्रकाशमान उस देवकी शरणमें

रत्नप्रभा

यथा हीत्यादिना। ननु तथापि पूर्वकल्पेश्वराणां मुक्तत्वाद् अस्मिन् कल्पे कोऽनुसन्धाता इत्यत आह—**ततश्चेति**। ज्ञानाद्युत्कर्षादित्यर्थः। मुक्तेभ्योऽन्ये अनुसन्धातार इति भावः। परमेश्वरानुगृहीतानां ज्ञानातिशये पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिवादानाह—**तथा चेति**। पूर्वम्—कल्पादौ, तस्मै—ब्रह्मणे, प्रहिणोति—गमयति तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति यस्तं देवं स्वात्माकारेण महावाक्योत्थबुद्धौ प्रकाशमानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे इस कल्पमें स्मरण कौन करता है, इसपर कहते हैं—"ततश्च" इत्यादि। अर्थात् ज्ञान आदिके उत्कर्षसे। मुक्तोंसे अन्य स्मरण करते हैं, ऐसा अर्थ है। परमेश्वरके कृपापात्रोंको उत्कृष्ट ज्ञान होता है, इस विषयमें पूर्वोक्त श्रुति और स्मृतिके वचन उद्धृत करते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। जो कल्पके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव कराता है, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे उत्पन्न हुई बुद्धिमें स्वात्मरूपसे प्रकाशमान

(१) आविर्भाव।

भाष्य

(श्वे० ६ । १८) इति । स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दः-प्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति । प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते । श्रुतिरपि ऋषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणाऽनुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य

भाष्यका अनुवाद

जाता हूँ) ऐसी श्रुति है। और 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभि०' (मधुच्छन्द आदि ऋषियोंने दस मण्डलवाले ऋग्वेदकी ऋचाएँ देखीं) इस प्रकार शौनक आदि भी कहते हैं। प्रत्येक वेदमें भी इसी प्रकार काण्ड, ऋषि आदिका स्मरण है। 'यो ह वा अविदितार्षेय०' (जिसके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगका ज्ञान नहीं है ऐसे मंत्रसे जो यज्ञ कराता है या अध्यापन करता है, वह स्थावर

रत्नप्रभा

शरणम्—परमम् अभयस्थानं निश्श्रेयसरूपमहं प्रपद्ये इत्यर्थः। न केवलम् एकस्यैव ज्ञानातिशयः किन्तु बहूनां शाखाद्रष्टॄणामिति विश्वासार्थमाह—**स्मरन्तीति**। ऋग्वेदो दशमण्डलावयववान् तत्र भवा ऋचः दाशतय्यः। वेदान्तरेऽपि काण्डसूक्तमन्त्राणां द्रष्टारो बौधायनादिभिः स्मृता इत्याह—**प्रतीति**। किञ्च, मन्त्राणाम् ऋष्यादिज्ञानावश्यकत्वज्ञापिका श्रुतिः मन्त्रदृगृषीणां ज्ञानातिशयं दर्शयतीत्याह—**श्रुतिरपीति**। आर्षेयः—ऋषियोगः, छन्दः—गायत्र्यादि, दैवतम्—अग्न्यादि, ब्राह्मणम्—विनियोगः, एतानि अविदितानि यस्मिन् मन्त्रे तेन इत्यर्थः। स्थाणुम्—स्थावरम्, गर्तम्—नरकम्। तथा च ज्ञानाधिकैः कल्पान्तरितं वेदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

परम अभयस्थान मोक्षरूप उस देवकी शरणमें मैं जाता हूँ, यह श्रुतिका अर्थ है। केवल एकको ही उत्कृष्ट ज्ञान नहीं होता, किन्तु बहुतसे मंत्रद्रष्टा ऋषियोंको भी होता है, ऐसा विश्वासके लिए कहते हैं—"स्मरन्ति" इत्यादिसे। दस मण्डलवाले ऋग्वेदकी ऋचाएँ दाशतयी कही जाती हैं। ऋग्वेदसे अन्य वेदोंके भी काण्ड, सूक्त, मंत्र आदिके दर्शन करनेवालोंका बौधायन आदिने स्मृतिमें वर्णन किया है, ऐसा कहते हैं—"प्रति" इत्यादिसे। मंत्रोंके ऋषि आदिका ज्ञान आवश्यक है, ऐसा दिखलाती हुई श्रुति मंत्रके दर्शन करनेवाले ऋषियोंका अतिशय ज्ञान दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"श्रुतिरपि" इत्यादिसे। आर्षेय—ऋषियोग अर्थात् ऋषिसंबन्ध। छन्द—गायत्री आदि। दैवत—अग्नि आदि। ब्राह्मण—मंत्रोंका विनियोग। ऋषियोग आदि जिस मंत्रके नहीं जाने गये, उस मंत्रसे [जो याग कराता है, वह] स्थाणु—स्थावर

भाष्य

'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाऽधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयौ—इत्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—

'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥'
(म० भा० शा० १२। ८५)

भाष्यका अनुवाद

हो जाता है अथवा नरकमें जाता है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्मादेतानि०' (इसलिए प्रत्येक मंत्रमें ऋषि आदिको जानना चाहिए) इस प्रकार श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मंत्रसे अनुष्ठान दिखलाती है। और प्राणियोंको सुखकी प्राप्ति हो, इसलिए धर्मका विधान है और दुःखके परिहारके लिए अधर्मका प्रतिषेध है। ऐहिक और पारलौकिक सुख-दुःखमें राग एवं द्वेष होते हैं, अन्य विषयमें नहीं होते। इसलिए धर्म और अधर्मकी फलभूत जो उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न होती जाती है, वह पूर्व सृष्टिके समान ही होती है। 'तेषां ये यानि०'

रत्नप्रभा

स्मृत्वा व्यवहारस्य प्रवर्तितत्वाद् वेदस्य अनादित्वम् अनपेक्षत्वं च अविरुद्धमिति भावः। अधुना समाननामरूपत्वं प्रपञ्चयति—**प्राणिनां चेति**। ततः किं तत्राऽऽह—**दृष्टेति**। ऐहिकामुष्मिकविषयसुखरागकृतधर्मस्य फलं पश्वादिकं दृष्टपश्वादिसदृशमिति युक्तम्, विसदृशे कामाभावेन हेत्वभावात्। तथा दृष्टदुःखद्वेषकृताधर्मफलं दृष्टसदृशदुःखमेव, न सुखम्, कृतहान्यादिदोषापत्तेः इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

[हो जाता है, अथवा] गर्त—नरक [में पड़ता है], इसलिए उत्कृष्ट ज्ञानवाले हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर अन्य कल्पमें अन्तर्हित वेदका भी स्मरण कर व्यवहार चालू करते हैं, इसलिए वेदका अनादित्व और अनपेक्षत्व अक्षत है, ऐसा तात्पर्य है। अब समान नामरूपताको विस्तारसे दिखलाते हैं—"प्राणिनां च" इत्यादिसे। इससे क्या हुआ, इसपर कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे। ऐहिक और आमुष्मिक विषयके सुखकी कामनासे किये हुए धर्मका फल जो पशु आदि है, वह दृष्ट पशु आदिकी तरह ही होता है, यह युक्त है, क्योंकि दृष्टके सदृश—जैसा देखते हैं, वैसा फल न हो, तो उसमें कामनाके न होनेसे हेतुका अभाव होगा। इसी प्रमाणसे दृष्ट दुःखके द्वेष द्वारा किये गये अधर्मका फल दृष्टतुल्य दुःख ही है, सुख नहीं है, क्योंकि ऐसा न माननेसे कृतहानि—किये हुए कर्मके फलकी हानि—आदि दोष उपस्थित

भाष्य

'हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' इति ।
(म० भा० शा० २५-७)

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव

भाष्यका अनुवाद

(प्राणियोंमेंसे जिन प्राणियोंने जो जो कर्म प्रथम सृष्टिमें किये उन्हीं कर्मोंको वे पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं) 'हिंस्राहिंस्रे०' (हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य जिन कर्मोंसे वासित होते हैं, उत्पन्न होकर उन्हींको प्राप्त करते हैं और वे ही उनको रुचते हैं) ऐसी स्मृति भी है । जगत्‌का नाश होनेपर भी इसकी शक्ति शेष

रत्नप्रभा

तर्कितेऽर्थे मानमाह—**स्मृतिश्चेति** । उत्तरसृष्टिः, पूर्वसृष्टिसजातीया, कर्मफलत्वात्, पूर्वसृष्टिवत् इत्यनुमानं चशब्दार्थः । तेषाम्—प्राणिनां मध्ये, तान्येव—तज्जातीयान्येव । तानि दर्शयन् तत्प्राप्तौ हेतुमाह—**हिंस्रेति** । कर्माणि विहित-निषिद्धत्वाकारेण अपूर्वं क्रियात्वेन संस्कारं च जनयन्ति । तत्र अपूर्वात् फलं भुङ्क्ते, संस्कारभावितत्वात् पुनः तज्जातीयानि करोतीत्यर्थः । संस्कारे लिङ्गमाह—**तस्मादिति** । संस्कारवशादेव पुण्यं पापं वा रोचते । अतोऽभिरुचिलिङ्गात् पुण्यापुण्यसंस्कारोऽनुमेयः, स एव स्वभावः, प्रकृतिः, वासना इति च गीयते । एवं कर्मणा सृष्टिसादृश्यम् उक्त्वा स्वोपादाने लीनकार्यसंस्काररूपशक्तिबलादपि सादृश्यम् इत्याह—**प्रलीयमानमिति** । इतरथा निःसंस्कारप्रलये जगद्वैचित्र्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

होंगे । तर्कसिद्ध विषयमें प्रमाण कहते हैं—"स्मृतिश्च" इत्यादिसे । पश्चाद्भाविनी सृष्टि पूर्व सृष्टिके सदृश ही होती है, क्योंकि वह भी पूर्वसृष्टिके समान कर्मफल ही है, यह अनुमान 'स्मृतिश्च' के चकारका अर्थ है । 'तेषां'—उन प्राणियोंमेंसे । 'तान्येव'—तज्जातीय ही अर्थात् उनके सदृश ही । उनको दिखलाते हुए उनकी प्राप्तिके हेतु भी कहते हैं—"हिंस्रा" इत्यादिसे । कर्म विहित और निषिद्धरूप होनेके कारण अपूर्वको और क्रियारूप होनेके कारण संस्कारको उत्पन्न करते हैं । उनमें अपूर्वसे फलका भोग करता है और संस्कारसे पुनः तज्जातिय कर्म करता है । पुरुषमें संस्कार है, इस विषयमें हेतु कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । संस्कारके बलसे ही पुरुषको पुण्य या पाप रुचता है । इस कारणसे—अभिरुचिरूप हेतुसे पुण्य और पापके संस्कारोंका अनुमान होता है । वही स्वभाव, प्रकृति या वासना कहलाता है । इस प्रकार कर्मोंसे होनेवाली सृष्टि समान है, यह कहकर उपादानमें लीन कार्य-संस्काररूप शक्तिके बलसे भी सृष्टि समान है, ऐसा कहते हैं—"प्रलीयमानम्" इत्यादिसे । अन्यथा

भाष्य

च प्रभवति इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । नचाऽनेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याऽप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणाम्, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चाऽनादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनिय-

भाष्यका अनुवाद

रहती है। उसी शक्तिसे वह फिर उत्पन्न होता है। अन्यथा जगत्की सृष्टि निष्कारण हुई है ऐसा अनिष्टका प्रसङ्ग हो जायगा। शक्तियाँ तरह तरह की हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले भू आदि लोक, देव, पशु और मनुष्यरूप प्राणियोंका प्रवाह, वर्ण, आश्रम, धर्म और फलकी व्यवस्थाएँ भी अनादि संसारमें इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धके समान नियत हैं, ऐसा

रत्नप्रभा

आकस्मिकत्वं स्यादित्यर्थः। ननु जगद्वैचित्र्यकारिण्यः अन्याः शक्तयः कल्प्यन्ताम्, तत्राऽऽह—**न चेति**। अविद्यायां लीनकार्यात्मकसंस्कारात् अन्याः शक्तयो न कल्प्याः, मानाभावाद् गौरवाच्च, स्वोपादाने लीनकार्यरूपा शक्तिस्तु "महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति" "श्रद्धत्स्व सोम्य" [छा० ६।१२।१,२] इति श्रुतिसिद्धा, अतोऽविद्यातत्कार्याद् अन्याः शक्तयो न सन्ति, आत्माविद्यैव तच्छक्तिरिति सिद्धान्त इत्यर्थः। निमित्तेषु अपि उपादानस्थकार्यमेव अविद्याघटनया शक्तिरन्या वा इत्यनाग्रहः। उपादाने कार्यसंस्कारसिद्धेः फलमाह—**ततश्चेति**। यथा सुप्तोत्थितस्य पूर्वचक्षुर्जातीयमेव चक्षुर्जायते, तच्च रूपजातीयमेव गृह्णाति, न रसादिकम्, एवं भोग्यलोकाः भोगाश्रयाः प्राणिनिकाया भोगहेतुकर्माणि संस्कारबलात् पूर्वलोकादितुल्यानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् संस्कारोंके भी नष्ट होनेपर जगत्में जो विचित्रता (कोई सुखी है कोई दुःखी है आदि) देखी जाती है वह आकस्मिक—कारणरहित हो जायगी। यदि कोई कहे कि जगत्की विचित्रता उत्पन्न करनेवाली अन्य शक्तियोंकी कल्पना करो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अविद्यामें लीन कार्यरूप संस्कारोंसे अन्य शक्तियोंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेमें कोई प्रमाण नहीं है और अनेक शक्तियोंकी कल्पना करनेमें गौरव भी है। अपने उपादानमें लीन कार्यरूप शक्ति तो 'महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति' 'श्रद्धत्स्व सोम्य' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है। इसलिए अविद्या और उसके कार्योंसे अन्य शक्तियाँ नहीं हैं, आत्माकी अविद्या ही वह शक्ति है, ऐसा सिद्धान्त है। उपादानमें कार्यसंस्कारके सिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। आशय यह कि जैसे सुषुप्तिसे जागे हुए पुरुषके नेत्र पहलेके जैसे ही होते हैं और पूर्वरूपसदृश रूपका ही वे ग्रहण करते हैं, रस आदिका ग्रहण नहीं करते,

भाष्य

तत्त्ववत् प्रत्येतव्यम्। नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥' (ऋ०सं० १०।१९०।३) इति।

भाष्यका अनुवाद

समझना चाहिए, क्योंकि छठी इन्द्रिय (मन) के विषयके समान प्रत्येक सृष्टिमें इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धसे होनेवाले व्यवहारके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस कारणसे—सब कल्पोंमें एक-सा व्यवहार होनेसे और हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंके अन्य कल्पके व्यवहारका स्मरण करनेमें समर्थ होनेसे प्रत्येक सृष्टिमें समान नाम और रूपवाली ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियां उत्पन्न होती हैं। नाम और रूपोंके समान होनेसे महासृष्टि और महाप्रलयस्वरूप जगत्की आवृत्ति स्वीकार करनेमें भी शब्दप्रामाण्य आदिमें कोई भी विरोध नहीं होता। श्रुति और स्मृति भी सब कल्पोंमें नाम और रूपकी सामानता दिखलाती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्०' (ब्रह्माने पूर्व कल्पके समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गकी रचना की।)

रत्नप्रभा

एवेति नियम इत्यर्थः। निकायाः—समूहाः। दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—नहीति। यथा षष्ठेन्द्रियस्य मनसोऽसाधारणविषयो नास्ति, सुखादेः साक्षिवेद्यत्वात्, तथा व्यवहारान्यथात्वम् असदित्यर्थः। षष्ठमिन्द्रियं तद्विषयश्च असन् इति वाऽर्थः। उक्तार्थं संक्षिपति—अतश्चेति। व्यवहारसाम्यात् सम्भवाच्च व्यवह्रियमाणा व्यक्तयः समाना

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसी प्रकार भोग्य लोक, भोगके आश्रय प्राणिसमूह और भोगके हेतु कर्म संस्कारबलसे पूर्वलोक आदिके सदृश ही होते हैं, ऐसा नियम है। निकाय—समूह। दृष्टान्तकी असिद्धिकी आशंका करके कहते हैं—"नहि" इत्यादि। जैसे छठी इन्द्रिय मनका कोई असाधारण विषय नहीं है, क्योंकि सुख आदि साक्षिवेद्य हैं अर्थात् साक्षिज्ञानके विषय हैं, उसी प्रकार व्यवहारका उलट फेर भी नहीं हो सकता। अथवा छठी इन्द्रिय और उसका विषय दोनों असत् हैं। उक्त अर्थका संक्षेप—उपसंहार करते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। व्यवहार समान है और उसका

भाष्य

यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत् क्लृप्तम्, तथाऽस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः। तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानाꣳ स्यामिति, स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३ । १ । ४ । १) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद् यस्मै वाग्नये निरवपत् तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका

भाष्यका अनुवाद

पूर्वकल्पमें सूर्य, चन्द्र आदि जगत्की जैसी कल्पना की थी, वैसी ही इस कल्पमें भी उनकी कल्पना की, ऐसा अर्थ है। इसी प्रकार 'अग्निर्वा अकामयत' (यजमानने कामना की कि मैं देवोंका अन्नभक्षक होऊँ। उसने कृत्तिका नक्षत्रोंके अभिमानी अग्निके लिए आठ कपालोंमें बनाया गया पुरोडाश अर्पण किया) यह श्रुति—नक्षत्रयज्ञविधिमें जिस अग्निने जिस अग्निके लिए अर्पण किया, उन दोनोंके नाम और रूपकी

रत्नप्रभा

एवेत्यर्थः। सूत्रं योजयति—**समानेत्यादिना**। भाविदृष्ट्या यजमानः अग्निः, अन्नादः अग्निरहं स्यामिति कामयित्वा कृत्तिकानक्षत्राभिमानिदेवाय अग्नये अष्टसु कपालेषु पचनीयं हविः निरुप्तवानित्यर्थः। नक्षत्रव्यक्तिबहुत्वाद् बहुवचनम्। [ननु यजमानः अग्निः भावी उद्देश्याग्निना समाननामरूपः कल्पान्तरे भवति। एवं 'रुद्रो वा अकायमत' 'विष्णुर्वा अकामयत' इत्यत्रापि तथा वक्तव्यम्, तदयुक्तम्। नहि अग्नेरिव विष्णुरुद्रयोरधिकारिपुरुषत्वम्, तयोः जगत्कारणत्वश्रवणात्। 'एक एव रुद्रो न' इति 'एको

रत्नप्रभाका अनुवाद

संभव भी है, इसलिए व्यवहार करनेवाली व्यक्तियाँ भी समान ही हैं, यह अर्थ है। सूत्रका योजना करते हैं—"समान" इत्यादिसे। भाविदृष्टिसे यजमान अग्नि है, उसने 'मैं अन्नभक्षक अग्नि होऊँ' ऐसी कामना की और कृत्तिका नक्षत्रके अभिमानी देव अग्निको आठ कपालोंमें बनाया हुआ पुरोडाश—हवि अर्पित किया। कृत्तिका नक्षत्र बहुत हैं, इसलिए 'कृत्तिकाभ्यः' यहाँ बहुवचनका प्रयोग है। [यदि कोई कहे कि जैसे आगे अग्नि होनेवाला यजमान अभी जिस अग्निके उद्देशसे हविका अर्पण करता है, वह कल्पान्तरमें उस अग्निके समान नाम-रूपवाला होता है। इसी प्रकार 'रुद्रो वा०' 'विष्णुर्वा०' इत्यादि स्थलमें भी आगे रुद्र होनेवाले यजमानने कामना की, एवं आगे विष्णु होनेवाले यजमानने कामना की, ऐसा ही अर्थ समझना चाहिए अर्थात् यजमान रुद्र तथा विष्णु भी हो सकता है, ऐसा मानना चाहिए। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि रुद्र एवं विष्णु अग्निके समान अधिकारी पुरुष नहीं है, किन्तु वे श्रुतिमें जगत्कारण कहे गये हैं। यदि ऐसा न मानें तो 'एक एव०' (रुद्र एक ही है, अनेक नहीं है), 'एको विष्णुः'

भाष्य

श्रुतिरिहोदाहर्तव्या। स्मृतिरपि—

'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इत्येवञ्जातीयका द्रष्टव्या॥ ३०॥

भाष्यका अनुवाद

समानताको दिखलाती है और यहां इस प्रकारकी दूसरी श्रुतियोंका उदाहरण देना चाहिए। 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः०॥' (ऋषियोंके जो नाम थे और वेदकी जो शक्ति थी, पुनः प्रलयके अन्तमें उत्पन्न होनेपर अजने—ब्रह्माने उन्हीं नामों और शक्तियोंको उन्हें दिया। जैसे भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न उनके चिह्न होते हैं और वे उन ऋतुओंके आनेपर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार युगादिमें पदार्थ दिखाई देते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियोंके अभिमानी अतीत देवताओंके समान ही इदानीन्तन देवता हैं और अतीत देवताओंके रूप और नामके समान ही उनके रूप और नाम भी हैं) इस प्रकारकी स्मृति भी प्रमाणरूपसे देखनी चाहिए॥ ३०॥

रत्नप्रभा

विष्णुः'इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधादिति।] स्मृतौ वेदेषु इति विषयसप्तमी, शर्वर्यन्ते—प्रलयान्ते। ऋतूनाम्—वसन्तादीनाम्, लिङ्गानि—नवपल्लवादीनि। पर्यये—घटीयन्त्रवत् आवृत्तौ, भावाः—पदार्थाः, तुल्या इति शेषः। तस्माद् जन्मनाशवद्विग्रहाङ्गीकारेऽपि कर्मणि शब्दे च विरोधाभावाद् देवानाम् अस्ति विद्याधिकार इति स्थितम्॥ ३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(विष्णु एक ही है) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे विरोध होगा।] स्मृतिमें 'वेदेषु' यहां पर विषय सप्तमी है। वेदविषयक दृष्टि। 'शर्वर्यन्ते'—प्रलयके अन्तमें। ऋतुओंके लिंग अर्थात् वसन्त आदिके नवपल्लव आदि चिह्न। 'पर्यये'—घटीयंत्रके समान घूमनेमें। भावाः—पदार्थ। 'भावाः' के बाद 'तुल्याः' इतना शेष समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि जन्म और नाशवाले शरीरका अंगीकार करनेपर भी कर्म और शब्दमें विरोध न होनेके कारण देवताओंका विद्यामें अधिकार है॥३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—मध्वादिषु, असम्भवात्, अनधिकारम् , जैमिनिः ।

पदार्थोक्ति—मध्वादिषु—'असौ वा आदित्यो देवमधु' 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादिषु मधुब्रह्माध्यासेन आदित्योपासनेषु मनुष्याधिकारकेषु, असम्भवात्—तेषामेवादित्यादीनामधिकारासम्भवात्, अनधिकारम्—ब्रह्मविद्यायां देवादीनामनधिकारं जैमिनिः [आचार्यो मन्यते]

भाषार्थ—मनुष्य जिनके अधिकारी हैं, ऐसे 'असौ वा०' (यह सूर्य देवताओंका मधु है), 'आदित्यो०' (आदित्य ब्रह्म है, यह उपदेश है) इत्यादि मधु एवं ब्रह्मके अध्याससे विहित आदित्यकी उपासना आदिमें उन्हीं आदित्य आदिका अधिकार नहीं हो सकता, इसलिए जैमिनि आचार्य मानते हैं कि ब्रह्मविद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है ।

भाष्य

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत् प्रतिज्ञातम्, तत् पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात्? मध्वादिष्वसम्भवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । न चैवं सम्भवति । कथम् ? 'असौ

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है, उसका यहांपर आक्षेप करते हैं। जैमिनि आचार्यका मत है कि देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि मधुविद्या आदिमें उनके अधिकारका संम्भव नहीं है। ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार माननेपर मधुविद्या आदिमें भी उनका अधिकार मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी विद्या ही हैं। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो०' (यह

रत्नप्रभा

आक्षिपति—**मध्वादिष्विति** । ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, विद्यात्वात् , मध्वादिविद्यावदित्यर्थः । दृष्टान्तं विवृणोति—**कथमित्यादिना** । द्युलोकाख्यवंशदण्डे अन्तरिक्षरूपे मध्वपूपे स्थित आदित्यो देवानां मोदनाद् मध्विव मधु

रत्नप्रभाका अनुवाद

देवताओंका ब्रह्मविद्यामें अधिकारका आक्षेप करते हैं—"मध्वादिषु" इत्यादिसे । ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार नहीं है, क्योंकि वह भी मधु आदि विद्याओंके समान विद्या है । दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । द्युलोक नामक वंश-दण्डमें अन्तरिक्षरूप मधुमाक्खियोंके

भाष्य

वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्, देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चाऽऽदित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ति' इत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृ-

भाष्यका अनुवाद

आदित्य निश्चय देवोंका मधु है) इसमें मधुके अध्याससे आदित्यकी उपासना मनुष्य कर सकते हैं। परन्तु देवता आदिको भी यदि उपासक माना जाय, तो आदित्य किस अन्य आदित्यकी उपासना करेगा ? और दूसरी बात यह भी है कि आदित्यमें रहनेवाली रोहित आदि पाँच किरणें अमृत हैं, ऐसा उपक्रम कर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये पांच देवगण क्रमसे उन अमृतोंका उपभोग करते हैं, ऐसा उपदेश करके 'स य एतदेवममृतं०' (जो इस अमृतको जानता है, वह वसुओंमेंसे एक होकर अग्निरूप मुखसे उसी अमृतका दर्शन करके तृप्त होता

रत्नप्रभा

इत्यारोप्य ध्यानं कार्यम्। तत्र आदित्यस्य अधिकारो न युक्तः, ध्यातृध्येयभेदाभावादित्याह—देवादिष्विति। अस्तु वस्वादीनां तत्र अधिकार इति आशङ्क्य तेषामपि च ध्येयत्वात् प्राप्यत्वाच्च न ध्यातृत्वमित्याह—पुनश्चेति। चतुर्वेदोक्तकर्माणि प्रणवश्च इति पञ्चकुसुमानि। तेभ्यः सोमाज्यादिद्रव्याणि हुतानि लोहितशुक्लकृष्णपरकृष्णगोप्याख्यानि पञ्च अमृतानि तत्तन्मन्त्रभागैः प्रागाद्यूर्ध्वान्तपञ्चदिगवस्थिताभिः आदित्यरश्मिनाडीभिः मध्वपूपस्थितच्छिद्ररूपाभिः आदित्यमण्डलम् आनीतानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

छातेमें स्थित आदित्य देवताओंको मधुके समान आनन्द देता है, इसलिए उसमें मधुका आरोप करके उसकी उपासना करनी चाहिए। उस उपासनामें सूर्यका अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि उपासक और उपास्यमें भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"देवादिषु" इत्यादिसे। वसु आदिका उसमें अधिकार हो ऐसी आशङ्का करके "पुनश्च" इत्यादिसे कहते हैं कि वे भी उपास्य एवं प्राप्य होनेके कारण उक्त विद्याके उपासक नहीं हो सकते हैं। चारों वेदोंमें कहे गये कर्म और प्रणव ये पांच पुष्प हैं, उन पुष्पोंसे होममन्त्ररूप मधुमक्खियाँ हवन किये गये सोम, घृत आदि पदार्थ रूप लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिकृष्ण, गोप्य नामक पाँच अमृतोंको होम मन्त्रोंद्वारा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व इन पाँच दिशाओंमें स्थित मधुमाक्खियोंके छातेके छिद्ररूप सूर्यकी रश्मियोंद्वारा सूर्य-

भाष्य

तानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति। वस्वादयस्तु कानन्यान् वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः, कं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः? तथा 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छा० ३। १८। २), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४। ३। १) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३। ११। १) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः सम्भवति। तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव

भाष्यका अनुवाद

है) इस प्रकार श्रुति वसु आदिके उपभोग्य अमृतोंको जाननेवालोंके लिए वसु आदिकी महिमाकी प्राप्ति दिखलाती है। परन्तु वसु आदि अमृतका उपभोग करनेवाले किन अन्य वसु आदिकोंका विज्ञान प्राप्त करेंगे? अथवा किस अन्य वसु आदिकी महिमाको प्राप्त करना चाहेंगे? उसी प्रकार 'अग्निः पादो वायुः०' (अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशाएँ पाद हैं), 'वायुर्वाव संवर्गः' (निश्चय वायु संवर्ग है), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इत्यादि देवतात्मक उपासनाओंमें उसी देवतात्माका अधिकार सम्भव नहीं है। उसी प्रकार 'इमावेव गोतमभरद्वाजा०' (ये ही

रत्नप्रभा

यशस्तेजइन्द्रियवीर्यान्नात्मना परिणतानि पञ्चदिक्षु स्थितैः वस्वादिभिः उपजीव्यानीति ध्यायतां वस्वादिप्राप्तिरुक्ता इत्यर्थः। सूत्रस्थादिपदार्थमाह—तथाग्निरिति। आकाशब्रह्मणः चत्वारः पादाः, द्वौ कर्णौ, द्वे नेत्रे, द्वे नासिके, एका वागिति सप्तसु इन्द्रियेषु शिरश्चमसतीरस्थेषु सप्तर्षिध्यानं कार्यमित्याह—तथेमावेवेति। अयं दक्षिणः कर्णः

रत्नप्रभाका अनुवाद

मण्डलमें ले जाती हैं और वहां वे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नरूपमें परिणत होकर पाँच दिशाओंमें स्थित वसु आदि देवताओंसे उपभोग्य होते हैं। इस प्रकार ध्यान करनेवाले मनुष्यके लिए वसु आदिकी प्राप्ति कही गई है। सूत्रस्थ आदि पदका अर्थ कहते हैं—"तथाग्निः" इत्यादिसे। इस आकाशरूप ब्रह्मके चार पाद हैं, मस्तकरूप चमस—यज्ञपात्रके तीरमें स्थित दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका और एक वाणीरूप सात इन्द्रियोंमें सप्तर्षियोंका ध्यान करे, ऐसा कहते हैं—"तथेमावेव" इत्यादिसे। अयम्—यह दक्षिण कर्ण गोतम है, वामकर्ण भरद्वाज है, दक्षिण

(१) 'इदं वै तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्नश्चमसः' इस प्रकार मुखको चमस कहकर 'तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे' इससे सात ऋषियोंको मुँहसम्बन्धी कहकर उसका विवरण करनेके लिए यह वाक्य प्रवृत्त हुआ है। चमसके नीचे बिल एवं ऊपर गोल होता है, इसी प्रकार इस मस्तकमें भी नीचे मुँहरूप बिल है एवं ऊपर गोलाकार है, अतः वह भी चमस कहा गया है।

भाष्य

गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २ । २ । ४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः सम्भवति ॥ ३१ ॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः ?

भाष्यका अनुवाद

गोतम और भरद्वाज हैं), इत्यादि ऋषि सम्बन्धी उपासनाओंमें उन्हीं ऋषियोंका अधिकार सम्भव नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

और किससे देवता आदिका अनधिकार है ?

रत्नप्रभा

गोतमः, वामः भरद्वाजः, एवं दक्षिणनेत्रनासिके विश्वामित्रवसिष्ठौ, वामे जमदग्निकश्यपौ, वागत्रिरित्यर्थः । अत्र ऋषीणां ध्येयत्वाद् न अधिकारः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नेत्र विश्वामित्र है, दक्षिण नासिका वसिष्ठ है, वाम नेत्र जमदग्नि है, वाम नासिका कश्यप है और वाणी अत्रि है । इस प्रकार ऋषियोंके ध्येय होनेसे उनका भी अधिकार नहीं है ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—ज्योतिषि, भावात्, च ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिषि—अलौकिकयोः आदित्यशब्दप्रत्यययोः ज्योतिर्मण्डले, भावाच्च—प्रयोगात् [तेषाम् अचेतनत्वात् तदतिरिक्तस्य चेतनस्य विग्रहादिमतः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात् तद्विग्रहप्रतिपादकानां मन्त्राणाम् अन्यपरत्वेन स्वार्थे प्रामाण्याभावात् न देवानां विद्याधिकारः] ।

भावार्थ—दृश्यमान ज्योतिर्मण्डलमें वैदिक आदित्यशब्दका प्रयोग और आदित्यकी प्रतीति होती हैं, वे मण्डल आदि अचेतन हैं, उनसे भिन्न शरीर आदिसे युक्त चेतन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं है, अतः आदित्य आदिके शरीरका प्रतिपादन करनेवाले मंत्र अन्यपरक हैं, उनका अपने अर्थमें प्रामाण्य नहीं है, इसलिए देवता आदिके शरीरी सिद्ध न होनेसे उनका विद्यामें अधिकार नहीं है ।

भाष्य

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते, लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनत्वावगमात्। एतेनाऽग्न्यादयो व्याख्याताः।

भाष्यका अनुवाद

द्युलोकमें रहनेवाला जो यह ज्योतिर्मण्डल दिन रात पुनः पुनः भ्रमण करता हुआ जगत्को प्रकाशित करता है, उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि ऐसी लोकप्रसिद्धि है और वाक्यशेषसे भी यही सिद्ध होता है। ज्योतिर्मण्डलका हृदय आदि शरीरके साथ अथवा चेतना और कामना आदिके साथ सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृत्तिका आदिके समान वे अचेतन हैं ऐसा ज्ञात होता है। यही प्रकार अग्नि आदिके विषयमें भी समझना चाहिये।

रत्नप्रभा

किञ्च, विग्रहाभावात् देवादीनां न क्वापि अधिकार इत्याह—ज्योतिषि भावाच्चेति। आदित्यः, सूर्यः, चन्द्रः, शुक्रः, अङ्गारक इत्यादिशब्दानां ज्योतिःपिण्डेषु प्रयोगस्य भावात्— सत्त्वात् न विग्रहवान् देवः कश्चिदस्ति इत्यर्थः। "आदित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता" [छा० ३ । ४ । ६] इति मधुविद्यावाक्यशेषे ज्योतिषि एव आदित्यशब्दः प्रसिद्धः। तर्हि ज्योतिःपिण्डानामेव अधिकारोऽस्तु, तत्राऽऽह—न चेति। अग्न्यादीनाम् अधिकारम् आशङ्क्य आह—एतेनेति। अग्निः, वायुः, भूमिः इत्यादिशब्दानाम् अचेतनवाचित्वेन इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

और शरीर न होनेसे देवता आदिका कहीं भी अधिकार नहीं है। ऐसा कहते हैं—"ज्योतिषि भावाच्च" इससे। अर्थात् आदित्य, सूर्य, चन्द्र, शुक्र और भौम इत्यादि शब्दोंका प्रयोग ज्योतिर्मण्डल—पिण्डाकार प्रकाशमान पदार्थोंमें है, इसलिए कोई भी देव शरीरी नहीं है। "आदित्यः पुरस्तात्०" (आदित्य पूर्वदिशामें उदय होता है, पश्चिममें अस्त होता है) इस मधुविद्यावाक्यशेषमें आदित्यशब्दका प्रयोग ज्योतिमें ही प्रसिद्ध है। तब ज्योतिर्मण्डलका ही अधिकार हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अग्नि आदिका विद्यामें अधिकार हो, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"एतेन" इत्यादि। अर्थात् आदित्यशब्दकी भाँति अग्नि, वायु, भूमि इत्यादि शब्दोंके अचेतनवाचक ही होनेके कारण।

भाष्य

स्यादेतत् । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति चेत्, नेत्युच्यते । नहि तावल्लोको नाम किंचित् स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यव्यभिचरितविषयेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध एव अर्थो लोकात् प्रसिद्ध इत्युच्यते । न चाऽत्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति । इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरमूलतामा-

भाष्यका अनुवाद

मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकव्यवहारसे प्रतीत होता है कि देवता आदिके शरीर हैं, इससे यह दोष नहीं है, ऐसी यदि शङ्का हो तो उसपर कहते हैं कि वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है । यथार्थतः पदार्थका ज्ञान करानेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोकप्रसिद्ध कहा जाता है । देवताओंका शरीर है इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिमेंसे कोई भी प्रमाण नहीं है । इतिहास और पुराण भी पुरुषप्रणीत

रत्नप्रभा

सिद्धान्ती शङ्कते—स्यादेतदित्यादिना । "वज्रहस्तः पुरन्दरः"इत्यादयः मन्त्राः । "सोऽरोदीत्" इत्यादयः अर्थवादाः ।

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।'
'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ॥'

इत्यादीनि इतिहासपुराणानि । लोकेऽपि यमं दण्डहस्तं लिखन्ति, इन्द्रं वज्रहस्तमिति विग्रहादिपञ्चकसद्भावाद् अनधिकारदोषो नास्तीत्यर्थः । "विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता । फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥" मानाभावाद् एतत् नास्तीति दूषयति—नेत्यादिना । न चाऽत्रेति । विग्रहादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षपर सिद्धान्ती शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (वज्रको हाथमें लिया हुआ इन्द्र) इत्यादि मंत्र हैं । 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि अर्थवाद हैं । 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा०' (यज्ञसे सन्तुष्ट हुए देवता तुमको इष्ट भोग देंगे) 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं०' (तृप्त हुए वे सब कामनाओंके शुभ फलोंसे इसको तृप्त करेंगे) इत्यादि इतिहास और पुराणवाक्य हैं । और लोकमें भी चित्रकार यमको दण्डहस्त-हाथमें दण्ड लिया हुआ और इन्द्रको वज्रहस्त बनाते हैं । इस प्रमाणसे विग्रह—शरीर आदि पांच धर्म होनेसे देवताओंका विद्यामें अधिकार कहा जा सकता है । 'विग्रहो हविषां भोग०' (शरीर, यज्ञीयद्रव्यका उपभोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फलदान, ये पांच विग्रह आदि धर्म हैं) । सिद्धान्तीकी इस शङ्कामें पूर्वपक्षी "न" इत्यादिसे दोष निकालता है कि प्रमाण न होनेसे ऐसा नहीं है ।

भाष्य

काङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते । तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

होनेसे मूलभूत अन्य प्रमाणकी अपेक्षा रखते हैं । अर्थवाद भी विधिके साथ एकवाक्यताके कारण स्तुत्यर्थक ही हैं, स्वतन्त्रतासे देवता आदिके शरीरका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । श्रुति आदि छः लिङ्ग जिनका विनियोग बतलाते हैं, वे मन्त्र भी प्रयोगके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थका अभिधान करते हैं, स्वतन्त्रतासे किसी भी अर्थमें प्रमाण नहीं हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं । इसलिए विद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । अर्थवादाः मन्त्रा वा मूलमित्याशङ्क्याऽऽह—**अर्थवादा इत्यादिना** । व्रीह्यादिवद् प्रयोगविधिगृहीता मन्त्राः प्रयोगसम्बन्धाभिधानार्थाः नाऽज्ञात-विग्रहादिपरा इति मीमांसका आचक्षते इत्यर्थः । तस्माद् विग्रहाभावादित्यर्थः ॥३२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न चाऽत्र" इत्यादि । अत्र—शरीर आदिमें । अर्थवाद मूल हैं या मन्त्र ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"अर्थवादा" इत्यादिसे । व्रीहि (धान्य) आदिके समान प्रयोगविधिमें गृहीत मन्त्र प्रयोगसे संबद्ध अर्थके प्रतिपादक हैं, अज्ञात शरीर आदिके प्रतिपादक नहीं हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं—यह अर्थ है । तस्माद्—शरीर न होनेसे ॥३२॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—भावम्, तु, बादरायणः, अस्ति, हि ।

पदार्थोक्ति—बादरायणस्तु [आचार्यः] भावम्–देवादीनामपि निर्गुणब्रह्म-विद्यायामधिकारं [मनुते], हि—यतः, अस्ति—देवताविग्रहप्रतिपादकमन्त्रादीनां प्रमाणान्तराविरोधेन स्वार्थे प्रामाण्यात् तेषामपि आर्थित्वाद्यधिकारकारणमस्ति ।

भाषार्थ—बादरायण आचार्य तो देवता आदिका भी निर्गुणब्रह्मविद्यामें अधिकार मानते हैं, क्योंकि देवता आदिके शरीरके प्रतिपादक मंत्र आदिका, अन्य प्रमाणसे विरोध न होनेके कारण, स्वार्थमें प्रामाण्य है, अतः देवता आदिके शरीरी होनेसे अधिकारके कारण आर्थित्व आदि हैं ।

———*———

भाष्य

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्व-सम्भवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां सम्भवः, अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च क्वचिदसम्भव इत्येतावता यत्र सम्भवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत, मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः सम्भवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्राऽपि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति लिङ्गदर्शनं श्रौतं देवाद्य-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षका निराकरण करता है । बादरायण आचार्यका मत है कि देवता आदिका भी विद्यामें अधिकार है । यद्यपि देवता आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली मधु-विद्या आदिमें देवता आदिके अधिकारका असम्भव है, तो भी शुद्ध ब्रह्मविद्यामें उनका अधिकार हो सकता है, क्योंकि अधिकारके कारण कामना, सामर्थ्य, प्रतिषेधका अभाव आदि हैं । कहीं असम्भव होनेसे ही जहां सम्भव है, वहां भी अधिकारका निषेध नहीं हो सकता । मनुष्योंमें भी सब ब्राह्मण आदिका सब राजसूय आदिमें अधिकार नहीं हो सकता । वहांपर जो न्याय है, उसीका यहां भी अवलम्बन करना चाहिए । ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें देवता आदिका अधिकार

रत्नप्रभा

सूत्राभ्यां प्राप्तं पूर्वपक्षं निरस्यति—**तुशब्द इत्यादिना** । ब्रह्मविद्या देवा-दीन् नाऽधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावत्, इति उक्तहेतुः अप्रयोजक इत्याह—**यद्यपीति** । दर्शादिकं न ब्राह्मणमधिकरोति, कर्मत्वाद्, राजसूयादिवद्, इति आभाससाम्यं विद्यात्वहेतोराह—**न चेति** । यत्र यस्याऽधिकारः सम्भवति, स तत्र अधिकारीति न्यायः तुल्य इत्यर्थः । यतः सर्वेषां सर्वत्र अधिकारो न सम्भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

दो सूत्रोंसे प्राप्त पूर्वपक्षका निरसन करते हैं—"तुशब्द" इत्यादिसे । ब्रह्मविद्या देवताओंके अधिकारके बाहर है, विद्या होनेसे, मधुविद्या आदिके समान, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसमें 'विद्या होनेसे' यह हेतु अप्रयोजक है, ऐसा कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । दर्श आदि कर्म ब्राह्मणके अधिकारके बाहर है, कर्म होनेसे, राजसूय आदिके समान, इसमें जैसे कर्मत्व हेतु अप्रयोजक है—सद्धेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है, उसी प्रकार विद्यात्व भी हेत्वाभास है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । तात्पर्य यह कि जिसका जिसमें अधिकार संभव है, वह उसमें अधिकारी है, यह न्याय समान है । सबका सबमें अधिकार संभव नहीं है, इससे

भाष्य

धिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १ । ४ । १०) इति 'ते होचुर्हन्त तमात्मनमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यादि च । स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ।

भाष्यका अनुवाद

सूचित करनेवाली 'तद्यो यो देवानां०' (देवताओं, ऋषियों और मनुष्योंमें जिस-जिसको ब्रह्मका प्रत्यक्रूपसे ज्ञान हुआ, वही ब्रह्म हो गया) यह श्रुति है। और 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो०' (उन्होंने कहा कि हम उस आत्माकी खोज करते हैं, जिसके ज्ञानसे सब लोकों और कामोंकी प्राप्ति होती है ऐसा परामर्श करके देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन ब्रह्म विद्याके लिए प्रजापतिके पास गये) इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। गन्धर्व और याज्ञवल्क्यके संवाद आदि स्मृतियाँ भी हैं।

रत्नप्रभा

ततो न चाऽपोद्येत इत्यन्वयः । तत्—ब्रह्म यो यः देवादीनां मध्ये प्रत्यक्त्वेन अबुध्यत, स तत् ब्रह्म अभवदित्यर्थः । ते ह देवाः ऊचुः अन्योन्यम्, ततः इन्द्रविरोचनौ सुरासुरराजौ प्रजापतिं ब्रह्मविद्याप्रदं जग्मतुरिति च लिङ्गान्तरमस्तीत्यर्थः । किमत्र ब्रह्मामृतमिति गन्धर्वप्रश्ने याज्ञवल्क्य उवाच तमिति मोक्षधर्मेषु श्रुतं देवादीनाम् अधिकारलिङ्गमित्याह—स्मार्तमिति । यथा बालानां गोलकेषु चक्षुरादिपदप्रयोगेऽपि शास्त्रज्ञैर्गोलकातिरिक्तेन्द्रियाणि स्वीक्रियन्ते, तथा ज्योतिरादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

'न च अपोद्येत' ऐसा अन्वय है । तत्—ब्रह्मको उन देवताओंमें जिस-जिसने आत्मारूपसे जाना वह ब्रह्म ही हो गया, ऐसा अर्थ है । देवता और असुरोंने परस्पर विचार किया, तब विद्याग्रहण करनेके लिए सुर और असुरोंके राजा इन्द्र और विरोचन ब्रह्मविद्याके देनेवाले प्रजापतिके पास गये, यह भी देवताओंके अधिकारी होनेमें प्रमाण है । ब्रह्म क्या है, ऐसा गन्धर्वने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया और याज्ञवल्क्यने उसका उत्तर दिया, ऐसा मोक्षधर्ममें जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद है, इससे भी देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, यह समझा जाता है, ऐसा कहते हैं—"स्मार्तम्" इत्यादिसे । जैसे पामरके नेत्रगोलकमें नेत्रपदका प्रयोग करनेपर भी शास्त्रवेत्ता गोलकसे भिन्न इन्द्रियाँ स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ज्योति आदिमें सूर्य आदि

भाष्य

यदप्युक्तम्-ज्योतिषि भावाच्च' इति । अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चाऽवस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम् । तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति, 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १ । १)

भाष्यका अनुवाद

'ज्योतिषि भावाच्च' जो सूत्र कहा गया है, उसपर हम कहते हैं—ज्योतिर्मण्डल आदिमें प्रयुक्त होनेपर भी देवतावाचक आदित्य आदि शब्द चेतनवाले ऐश्वर्यशाली उन-उन देवताओंका बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदिमें ऐसा व्यवहार है । ऐश्वर्यके योगसे देवता ज्योतिर्मण्डल बन सकते हैं और अपनी इच्छानुसार अनेक शरीर भी धारण कर सकते हैं । क्योंकि 'मेधातिथिं०' (इन्द्रने भेड़ बनकर कण्वके पुत्र मेधातिथिका हरण किया) इस श्रुतिके अनुसार सुब्रह्मण्य अर्थवादमें इन्द्रके प्रति 'मेधातिथिका मेष' ऐसा संबोधन है । 'आदित्यः पुरुषो

रत्नप्रभा

सूर्यादिशब्दप्रयोगेऽपि विग्रहवद्देवताः स्वीकार्या इत्याह—ज्योतिरादीति । तथा—चेतनत्वेन व्यवहारादित्यर्थः । एकस्य जडचेतनोभयरूपत्वं कथम् ? तत्राऽऽह—अस्ति हीति । तथा हि विग्रहवत्तया देवव्यवहारः श्रूयते । सुब्रह्मण्यः उद्गातृगणस्थः ऋत्विक् तत्सम्बन्धी योऽर्थवादः 'इन्द्र आगच्छ' इत्यादिः, तत्र मेधातिथेर्मेष ! इति इन्द्रसम्बोधनं श्रुतम्, तद् व्याचष्टे—मेधेति । मुनिं मेषो भूत्वा जहारेति ज्ञापनार्थं मेष ! इति इन्द्रसम्बोधनमित्यर्थः । यदुक्तम्—आदित्यादयो मृदादिवद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी विग्रहयुक्त देवताका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"ज्योतिरादि" इत्यादिसे । 'तथा'—चेतनरूपसे व्यवहार होनेके कारण । परन्तु एकमें ही जड़ और चेतनरूपसे व्यवहार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"अस्ति हि" इत्यादि । इसी प्रकार शरीररूपसे देवताओंका व्यवहार सुना जाता है । 'सुब्रह्मण्य'—उद्गाताओंमेंसे एक ऋत्विक् । उसके संबन्धका 'इन्द्र आगच्छ' इत्यादि जो अर्थवाद है, वह सुब्रह्मण्यार्थवाद है । उसमें 'मेधातिथेर्मेष' ऐसा इन्द्रका सम्बोधन है, उसका व्याख्यान करते हैं—"मेधा" इत्यादिसे । इन्द्र मेष बनकर मुनिको ले गया, ऐसा बतलानेके लिए 'मेष' यह इन्द्रका संबोधन है, ऐसा अर्थ है । आदित्य आदि मृत्तिका आदिके समान अचेतन ही

भाष्य

इति । स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते—'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ । ४) इत्यादिदर्शनात् । ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वप्यचेतनत्वमभ्युपगम्यते, चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारादित्युक्तम् ।

यदप्युक्तम्—मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यम् इति । अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणम्,

भाष्यका अनुवाद

भूत्वा' (आदित्य पुरुष बन कर कुन्तीके पास गया) ऐसी स्मृति भी है । मृत्तिका आदिमें भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं, क्योंकि 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) 'आपोऽब्रुवन्' (जल बोला) इत्यादि श्रुतियाँ देखी जाती हैं । आदित्य आदिमें भी ज्योतिर्मण्डलरूप भूतांश अचेतन माना जाता है, किन्तु मंत्र, अर्थवाद आदिके व्यवहारसे देवतात्मा अधिष्ठाता चेतन ही हैं ऐसा कहा गया है ।

मंत्र और अर्थवाद अन्यार्थक—अन्य अर्थके प्रतिपादक हैं, अतः उनमें देवताके विग्रह आदिपर प्रकाश डालनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—वस्तुके सद्भाव और असद्भावके प्रति उसकी प्रतीति और

रत्नप्रभा

अचेतना एव इति । तत् न, सर्वत्र जडाजडांशद्वयसत्त्वात् इत्याह—मृदिति । आदित्यादौ को जडभागः कः चेतनांश इति, तत्राऽऽह—ज्योतिरादेस्त्विति । मन्त्रादिकं पदशक्त्या भासमानविग्रहादौ स्वार्थे न प्रमाणम्, अन्यपरत्वात्, विषं भुङ्क्ष्व इति वाक्यवदित्याह—यदपीति । अन्यपरादपि वाक्याद् बाधाभावे स्वार्थो ग्राह्य इत्याह—अत्र ब्रूम इति । तात्पर्यशून्येऽपि अर्थे प्रत्ययमात्रेण अस्तित्वमुदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ही जड़ और चेतन दो अंश हैं, ऐसा कहते हैं—"मृद्" इत्यादिसे । आदित्य आदिमें कौन जड़ भाग है और कौन चेतन भाग है ? इसपर कहते हैं—"ज्योतिरादेस्तु" इत्यादि । मंत्र आदि पदशक्तिसे भासमान विग्रह आदि जो स्वार्थ है, उसमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'विषं भुङ्क्ष्व' (विष खाओ) वाक्यके समान अन्यार्थक है, ऐसा कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । अन्यपरक वाक्यसे भी यदि बाध न हो, तो स्वार्थका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अत्र ब्रूमः" इत्यादिसे ।

भाष्य

नाऽन्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथा ह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राऽऽह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति। 'तथा न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात् सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुनः सुरां पिबेदिति

भाष्यका अनुवाद

अप्रतीति कारण है, किन्तु उसके वाचक पदका अन्यार्थकत्व या अनन्यार्थकत्व कारण नहीं है। जैसे कि किसी प्रयोजनके लिए निकले हुए पुरुषको मार्गमें पड़े हुए घास-पत्तों आदि की प्रतीति होती है—इसपर कहते हैं कि जो दृष्टान्त दिया गया है, वह विषम है। वहां तो घास, पत्ते आदिका प्रत्यक्ष होता है। उससे उसके अस्तित्वकी प्रतीति होती है। परन्तु यहां तो विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता प्राप्त करनेसे अर्थवाद स्तुत्यर्थक है, अतः स्वतन्त्रतया वह भूतार्थका प्रतिपादक है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। अर्थकी प्रतीति करानेवाले महावाक्यमें अवान्तरवाक्य भिन्न अर्थकी प्रतीति नहीं करा सकता। जैसे कि 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पीवे) इस नकारवाले वाक्यमें तीन पदोंके सम्बन्धसे सुरापानका प्रतिषेधरूप एकही अर्थ प्रतीत होता है, 'सुरां पिबेत्' (सुरा पीवे) इन दो

रत्नप्रभा

हरति—**तथा हीति**। तृणादौ प्रत्ययोऽस्ति विग्रहादौ स नाऽस्तीति वैषम्यं शङ्कते—**अत्राऽऽहेति**। विध्युद्देशः—विधिवाक्यम्, तदेकवाक्यतया प्रशस्तो विधिः इत्येव अर्थवादेषु प्रत्ययः। वृत्तान्तः—भूतार्थो विग्रहादिः, तद्विषयः प्रत्ययो नाऽस्ति इत्यर्थः। ननु अवान्तरवाक्येन विग्रहादिप्रत्ययोऽस्ति इत्यत आह—**नहीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस अर्थमें तात्पर्य नहीं है, वह अर्थ भी प्रतीतिमात्रसे सिद्ध होता है, इस विषयमें उदाहरण देते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। परन्तु तृण आदिमें प्रत्यय—प्रत्यक्षप्रमाण है, शरीर आदिमें नहीं है, इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्यकी शंका करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। विध्युदेश—विधिवाक्य, वाक्यैकवाक्यतासे विधिकी प्रशंसाका ज्ञान अर्थवादमें होता है, वृत्तान्त—सिद्धार्थ विग्रह आदिका ज्ञान नहीं होता यह भाव है। यदि कोई कहे कि अवान्तरवाक्यार्थसे विग्रह आदिका ज्ञान हो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। आशय

भाष्य

पदद्वयसम्बन्धात् सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याऽग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्याऽनन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां

भाष्यका अनुवाद

पदोंके सम्बन्धसे सुरापानकी विधिकी प्रतीति नहीं होती। यहां कहते हैं—दृष्टान्त विषम है। सुरापानके प्रतिषेधमें पदान्वय एक होनेके कारण अवान्तर वाक्यार्थका ग्रहण न होना युक्त है। परन्तु विधिवाक्य और अर्थवादमेंसे तो अर्थवादमें रहनेवाले पद भूत-सिद्ध अर्थमें पृथक् अन्वित होकर पश्चात् कैमर्थ्य[1]से विधिवाक्यके स्तावक होते हैं, जैसे 'वायव्यं श्वेतं०' (ऐश्वर्य चाहनेवाला वायु-

रत्नप्रभा

सुरापानप्रत्ययोऽपि स्यादिति भावः। पदैकवाक्यत्ववाक्यैकवाक्यत्ववैषम्याद् मैवमित्याह—अत्रोच्यत इति। नञ्पदम् एकं यदा सुरां पिबेदिति पदाभ्याम् अन्वेति, तदा पदैकवाक्यम् एकमेव अर्थानुभवं करोति, न तु पदद्वयं पृथक् सुरापानं बोधयति, तस्य विधौ निषेधानुपपत्तेः वाक्यार्थानुभवं प्रति अद्वारत्वात्। अर्थवादस्तु भूतार्थसंसर्गं स्तुतिद्वारं बोधयन् विधिना वाक्यैकवाक्यतां भजते इत्यस्ति विग्रहाद्यनुभव इत्यर्थः। ननु अर्थवादस्थपदानाम् अवान्तरसंसर्गबोधकत्वं विना साक्षादेव विध्यन्वयोऽस्तु, तत्राऽऽह—यथा हीति। साक्षाद् अन्वयायोगं

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह कि 'न सुरां पिबेत्' से सुरापानका भी ज्ञान हो जायगा। पदैकवाक्यता और वाक्यैकवाक्यता से वैषम्य है, अतः यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। एक 'नञ्' पद 'सुरां पिबेत्' इन दो पदोंके साथ जब अन्वित होता है, तब पदैकवाक्यतासे एक ही अर्थका अनुभव कराता है, दो पद अलग सुरापानका बोध नहीं कराते हैं। यदि अलग सुरापानकी विधि कही जाय, तो सुरापानका निषेध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वाक्यार्थानुभवके प्रति वह सुरापान द्वार-कारण ही न रहेगा। अर्थवाद तो स्तुतिके द्वारभूत भूतार्थ-संबन्धका बोध कराता हुआ विधिके साथ वाक्यैकवाक्यताको प्राप्त करता है, इस कारण अर्थवादोंसे देवता आदिके शरीरका ज्ञान होता है। परन्तु अर्थवादपदोंके अवान्तर संसर्गका बोध किये बिना साक्षात् विधिके साथ अन्वय हो,

(१) कैमर्थ्य—किमर्थता अर्थात् यह वर्णन किसलिए है, ऐसे प्रयोजनवशसे।

भाष्य

वायव्यादिपदानां विधिना सम्बन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। नहि भवति 'वायुर्वा आलभेत' इति 'क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' इत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंविशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र योऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनाऽर्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति, तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्

भाष्यका अनुवाद

देवके लिए श्वेत पशुका आलभन करे) इसमें विधिवाक्यगत वायव्य आदि पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध है; उस प्रकार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता०' (वायु सबकी अपेक्षा अतिशय क्षिप्र गति देवता है यजमान अपने वायुके भागसे वायुका ध्यान करता है, वही इसको ऐश्वर्यशाली बनाता है) इन अर्थवादवाक्यस्थ पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध नहीं है। निश्चय, 'वायुरालभेत' या 'क्षेपिष्ठा देवता आलभेत' ऐसा अन्वय नहीं होता। अर्थवादके वायु पदका या 'क्षेपिष्ठा देवता' इन पदोंका आलभेत विधिके साथ सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु वायुका स्वभावके कथनद्वारा अवान्तर अन्वय प्राप्त करके ही इस प्रकार विशिष्ट देवतावाला यह कर्म्म है, इस तरह विधिकी स्तुति करते हैं। जहां वह अवान्तर वाक्यार्थ अन्य प्रमाणका विषय होता है वहां उसके अनुवादसे अर्थवाद प्रवृत्त होता है और जहां प्रमाणसे विरोध है, वहां गुणवादसे; जहां वे दोनों नहीं होते, वहां अन्य

रत्नप्रभा

दर्शयति—**नहीति**। अर्थवादात् सर्वत्र स्वार्थग्रहणम् आशङ्क्य अर्थवादान् विभजते—**तद्यत्रेति**। तत्—तत्र अर्थवादेषु, यत्र—"अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादौ इत्यर्थः। "आदित्यो यूपः" इति अभेदो बाधित इति तेजस्वित्वादि—गुणवादः, यत्र—"वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादौ मानान्तरसंवादविसंवादौ न स्तः, तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसपर कहते हैं—"यथा हि" इत्यादि। साक्षात् अन्वयका अयोग दिखलाते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अर्थवादवाक्योंसे सर्वत्र स्वार्थका ग्रहण हो, ऐसी आशङ्का करके अर्थवादका विभाग करते हैं—"तद्यत्र" इत्यादिसे। उनमें—अर्थवादवाक्योंमें यत्र-'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिमें अनुवाद समझो। 'आदित्यो यूपः' इसमें आदित्य और यूपका अभेद बाधित है। इसलिए यूपमें तेज आदि गुणोंका कथन है, इसे गुणवाद समझो। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिमें अन्य

भाष्य

गुणवादः स्याद्, आहोस्वित् प्रमाणान्तराविरोधाद् विद्यमानार्थवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानार्थवाद आश्रणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्, नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं

भाष्यका अनुवाद

प्रमाणके अभावसे गुणवाद हो अथवा अन्य प्रमाणके अविरोधसे विद्यमानवाद हो, ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर विचारशीलोंको विद्यमानवादका आश्रयण करना चहिए, गुणवादका नहीं। इसी प्रकार मन्त्रमें समझना चाहिए। और इन्द्र आदि देवताओंको हवि देनेकी प्रेरणा करनेवाली विधियाँ ही इन्द्र आदिके स्वरूपकी अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्र आदि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हों, तो

रत्नप्रभा

भूतार्थवाद इत्यर्थः, इति विमृश्य इति अध्याहारः। विग्रहार्थवादः स्वार्थेऽपि तात्पर्यवान्, अन्यपरत्वे सति अज्ञाताबाधितार्थकशब्दत्वात्, प्रयाजादिवाक्यवदिति न्यायं मन्त्रेषु अतिदिशति—**एतेनेति**। वेदान्तानुवादगुणवादानां निरासाय हेतौ पदानि। न च उभयपरत्वे वाक्यभेदः, अवान्तरार्थस्य महावाक्यार्थद्वारत्वादिति भावः। विध्यनुपपत्त्याऽपि स्वर्गवद् देवताविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—**अपि चेति**। ननु क्लेशात्मके कर्मणि विधिः फलं विना अनुपपन्न इति भवतु "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इत्यर्थवादसिद्धः स्वर्गो विधिप्रमाणकः, विग्रहं विना विधेः का

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाणके साथ संवाद या विवाद नहीं है, इसको भूतार्थवाद—सत्य अर्थका वाद समझो। 'इति'के बाद 'विमृश्य' का अध्याहार कर लेना चाहिए। विग्रहार्थवाद स्वार्थमें भी तात्पर्य रखता है, अन्यपरक होकर अज्ञात अबाधित अर्थका प्रतिपादक शब्द होनेके कारण, प्रयाज आदि वाक्योंके समान, इस न्यायका मन्त्रोंमें अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। वेदान्त, गुणवाद और अनुवादमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए 'अन्यपरत्वे सति अज्ञाताबाधितार्थक शब्दत्वात्' इस हेतुमें तीन विशेषण दिये गये हैं। उभयपरक होनेपर भी वाक्यभेद नहीं होता है, क्योंकि अवान्तरवाक्यार्थ महावाक्यार्थका द्वारभूत है। देवताका रूप न माननेसे विधि अनुपपन्न होती है, इसलिए विधिकी अनुपपत्तिसे भी स्वर्ग आदिके समान देवताके विग्रहका अङ्गीकार करना चाहिए; ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। परन्तु क्लेशात्मक कर्ममें फलके बिना विधि अनुपपन्न है, इसलिए "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" (जो दुःखसे संभिन्न नहीं) इस अर्थवादसे सिद्ध वस्तुरूप स्वर्गमें विधि प्रमाण रहे। विग्रह आदि न माननेसे विधिकी अनुपपत्ति ही

भाष्य

शक्यन्ते। न च चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद् वषट्-करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति, शब्दार्थयोर्भेदात्, तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूप-

भाष्यका अनुवाद

उनका ध्यान नहीं किया जा सकता और ध्यान न होनेसे उन्हें हवि भी नहीं दिया जा सकता। श्रुति भी 'यस्यै देवतायै०' (जिस देवताके लिए हविका ग्रहण किया हो, उसका वषट्कार करनेसे पहले ध्यान करना चाहिए) ऐसा कहती है। और केवल शब्द अर्थका स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थका भेद है। उन मन्त्र और अर्थवादमें इन्द्र आदिका जैसा स्वरूप

रत्नप्रभा

अनुपपत्तिः तामाह—नहीति। उद्दिश्य त्यागानुपपत्त्या चेतसि आरोहोऽङ्गीकार्य इत्यत्र श्रुतिमपि आह—यस्यै इति। अतः चेतसि आरोहार्थं विग्रह एष्टव्यः। किञ्च, कर्मप्रकरणपाठाद् विग्रहप्रमितिरपि प्रयाजवत् कर्माङ्गत्वेन अङ्गीकार्या, तां विना कर्मापूर्वासिद्धेः। किञ्च, सुप्रसन्नविग्रहवद् देवतां त्यक्त्वा शब्दमात्रं देवता इति उक्तिरयुक्ता इत्याह—न च शब्देति। न च आकृतिमात्रं शब्दशक्यम् अस्तु, किं विग्रहेण इति वाच्यम्; निर्व्यक्त्याकृत्ययोगात्। अतः शब्दस्य अर्थाकाङ्क्षायां मन्त्रादिप्रमितविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—तत्रेति। एवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्या है? इस शंकापर अनुपपत्ति दिखलाते हैं—"नहि" इत्यादिसे। चित्तमें देवताके स्वरूपका ध्यान किये बिना देवताके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग करना संगत नहीं हो सकता, इसलिए देवताओंके स्वरूपके ध्यानका स्वीकार करना चाहिए। इस विषयमें प्रमाणभूत श्रुतिको भी उद्धृत करते हैं—"यस्यै" इत्यादिसे। इसलिए चित्तमें आरूढ़ करनेके लिए विग्रह अवश्य मानना चाहिए और देवताओंके शरीरका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कर्मके प्रकरणमें पढ़ी गई है, इसलिए प्रयाजके समान विग्रहका ज्ञान भी कर्मके अंगरूपसे मानना चाहिए, अन्यथा देवताओंके शरीरके अभावमें कर्मसे अपूर्व ही उत्पन्न नहीं होगा। और सुप्रसन्न विग्रहवाले देवताका त्याग करके केवल शब्द-मात्र देवता है, यह कथन अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"न च शब्दः" इत्यादिसे। आकृतिमात्र ही शब्दका शक्य हो, शरीर माननेकी क्या आवश्यकता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्तिके बिना जाति रह ही नहीं सकती। इसलिए शब्दको अर्थकी अपेक्षा होनेके कारण मन्त्रादिसे ज्ञात विग्रहका ही अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। इस

भाष्य

मवगतं न तत् तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहास-पुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवद् मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नाऽन्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च

भाष्यका अनुवाद

बतलाया गया है, वह वैसा ही है, उसका प्रतिषेध करना शब्द-प्रमाण माननेवालोंके लिए उचित नहीं है। इतिहास और पुराण भी मन्त्रमूलक और अर्थवादमूलक होनेके कारण प्रमाण होनेसे उपर्युक्त रीतिसे देवताके विग्रह आदि सिद्ध करनेमें समर्थ होते हैं। और देवताके शरीरादिमें प्रत्यक्ष आदि भी मूल हैं। जो हमको अप्रत्यक्ष हैं वे भी चिरन्तनों—प्राचीनोंको प्रत्यक्ष हो सकते हैं। जैसे कि व्यास आदि देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते हैं, ऐसी स्मृति है। आजकलके समान प्राचीन लोग देवता आदिके साथ व्यवहार करनेमें समर्थ न थे, ऐसा जो कहेगा, वह जगत्की विचित्रताका अपलाप करेगा और आजकलके समान अन्य समयमें भी सार्वभौम क्षत्रियोंकी सत्ताका निषेध करेगा, तब राजसूय

रत्नप्रभा

मन्त्रार्थवादमूलकम् इतिहासादिकमपि विग्रहे मानमित्याह—**इतिहासेति**। प्रमाणत्वेन संभवदित्यर्थः। व्यासादीनां योगिनां देवतादिप्रत्यक्षमपि इतिहासादेर्मूलमित्याह—**प्रत्यक्षेति**। व्यासादयो देवतादिप्रत्यक्षशून्याः, प्राणित्वाद्, अस्मद्वत, इत्यनुमानम् अतिप्रसंगेन दूषयति—**यस्त्वित्यादिना**। सर्वं घटाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, घटवदिति जगद्वैचित्र्यं नास्ति इत्यपि स ब्रूयात्। तथा क्षत्रियाभावं

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार मन्त्र और अर्थवाद जिनका मूल है, ऐसे इतिहास आदि भी विग्रहमें प्रमाणभूत हैं, ऐसा कहते हैं—"इतिहास" इत्यादिसे। 'सम्भवत्'—प्रमाण होता हुआ। व्यास आदि योगियोंको जो देवता आदिका प्रत्यक्ष होता है, वह भी इतिहास आदिका मूल है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्यक्ष" इत्यादिसे। व्यास आदि देवताके प्रत्यक्षसे रहित हैं, प्राणी होनेसे, हमारे समान, इस अनुमानमें व्यभिचाररूप दोष दिखाते हैं—"वस्तु" इत्यादिसे। जो पुरुष यह कहता है कि 'सब वस्तुएँ घटसे अभिन्न हैं, वस्तु होनेसे, घटके समान, वह जगत्की विचित्रताका निषेध

भाष्य

राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात् । इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात् । तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते । अपि च स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादि । योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम् । श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—

'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥'

भाष्यका अनुवाद

आदि विधि बाधित हो जायगी और आजकलके समान अन्य समयमें भी वर्णाश्रमधर्म अव्यवस्थित ही था, ऐसी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें व्यवस्था करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि धर्मके उत्कर्षके कारण प्राचीन लोग देवता आदिके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। और 'स्वाध्यायादिष्ट०' (स्वाध्यायसे इष्टदेवताके साथ सम्प्रयोग और संभाषण आदि सम्बन्ध होता है) इत्यादि स्मृति भी है। अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्तिका साधन और स्मृतिसिद्ध योगका भी सहसा निषेध नहीं किया जा सकता। 'पृथ्व्यप्तेजो०' (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच भूतोंके अपने वशमें होनेसे और अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होनेसे अभिव्यक्त

रत्नप्रभा

वर्णाश्रमाभावं वर्णाश्रमाद्यव्यवस्थां च ब्रूयात्, निरङ्कुशबुद्धित्वात् । तथा च राजसूयादिशास्त्रस्य कृतादियुगधर्मव्यवस्थाशास्त्रस्य बाध इत्यर्थः । योगसूत्राद् अपि देवादिप्रत्यक्षसिद्धिरित्याह—**अपि चेति**। मन्त्रजपाद् देवसान्निध्यं तत्संभाषणं चेति सूत्रार्थः । योगमाहात्म्यस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाद् योगिनामस्ति देवादिप्रत्यक्षमित्याह—**योग इति**। पादतलात् आजानोः, जानोः आनाभेः, नाभेः आग्रीवायाः, ग्रीवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करेगा। इसी प्रकार वह निरंकुश बुद्धि होनेसे क्षत्रिय आदि वर्ण और आश्रमका, तथा वर्ण और आश्रम आदिकी व्यवस्थाओंका भी अपलाप करेगा। तब राजसूय आदि शास्त्र और कृतयुग आदि युगोंके धर्म-व्यवस्थाशास्त्रका भी बाध होगा। और योगसूत्रसे भी देवता आदिका प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। मंत्रजपसे देवताका सांनिध्य और उसके साथ संभाषण होता है यह सूत्रका अर्थ है। योगमाहात्म्य श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध है, इससे योगियोंको देवता आदिका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हैं—"योग" इत्यादिसे। आशय यह कि पादतलसे जानुपर्यन्त,

भाष्य

(श्वे० २ । १२) इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नाऽस्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । तस्मात् समूलमितिहासपुराणम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता, तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः । ततश्चार्थित्वादिसम्भवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

तेजोमय देहको प्राप्त हुए योगीको रोग, जरा और मृत्यु आदि नहीं होते) इत्यादि श्रुतिभी योगका माहात्म्य कहती है । मन्त्र और ब्राह्मणके द्रष्टा ऋषियोंकी सामर्थ्यकी अपनी सामर्थ्यसे तुलना करना ठीक नहीं है । इसलिए इतिहास और पुराण समूल—प्रमाणभूत हैं । लोकप्रसिद्धि भी श्रुति, स्मृति आदि आधारोंके रहते निराधार नहीं कही जा सकती । इसलिए मन्त्र आदिसे—देवता आदिका विग्रह है, इत्यादि प्रतीत होना युक्त है । और उनमें अर्थित्व आदिके सम्भवसे देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार युक्त है । ऐसा माननेसे ही क्रममुक्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी संगत होती हैं ॥३३ ॥

रत्नप्रभा

याश्चाऽऽकेशप्ररोहम्, ततश्च आब्रह्मरन्ध्रं पृथिव्यादिपञ्चके समुत्थिते—धारणया जिते योगगुणे च अणिमादिके प्रवृत्ते योगाभिव्यक्तं तेजोमयं शरीरं प्राप्तस्य योगिनो न रोगादिस्पर्श इत्यर्थः । चित्रकारादिप्रसिद्धिरपि विग्रहे मानमित्याह—**लोकेति** । अधिकरणार्थम् उपसंहरति—**तस्मादिति** । चिन्तायाः फलमाह—**क्रमेति** । एवमेव–देवादीनां ब्रह्मविद्याधिकारे सत्येव देवत्वप्राप्तिद्वारा मुक्तिफलोपासनानि युज्यन्ते । देवानाम् अनधिकारे ज्ञानाभावात् क्रममुक्त्यर्थिनामुपासनेषु प्रवृत्तिः न स्यात् । अतोऽधिकारनिर्णयात् प्रवृत्तिसिद्धिरिति भावः ॥ ३३ ॥ (८)

रत्नप्रभाका अनुवाद

जानुसे नाभिपर्यन्त, नाभिसे ग्रीवापर्यन्त, ग्रीवासे केशके उद्गम स्थान तक और वहांसे ब्रह्मरंध्रपर्यन्त पृथिवी आदि पाँचोंके धारणासे जीते जानेपर और योगगुण अणिमा आदिकी प्राप्ति होनेपर योगसे अभिव्यक्त तेजोमय शरीरको प्राप्त हुए योगीको रोग आदिका स्पर्श नहीं होता । चित्रकार आदिकी प्रसिद्धि भी विग्रहमें प्रमाणभूत है, ऐसा कहते हैं–"लोक" इत्यादिसे । "क्रम" इत्यादिसे चिन्ताका फल कहते हैं । 'एवमेव'–देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध होनेपर ही देवत्वप्राप्ति द्वारा क्रममुक्ति फलवाली उपासनाएँ संगत होती हैं । देवोंका अधिकार न हो, तो ज्ञान न होनेसे क्रममुक्तिकी कामनावालोंकी उपासनामें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसलिए अधिकारके निर्णयसे प्रवृत्ति सिद्ध होती है, ऐसा अर्थ है ॥३३॥

[९ अपशूद्राधिकरण सू० ३४-३८]

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ।
अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥१॥
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जैसे त्रैवर्णिकेतर—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे भिन्न देवताओंका वेदविद्यामें अधिकार है, उसी भांति शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार हो सकता है ।

सिद्धान्त—देवताओंमें वेदका अपने आप आविर्भाव होता है और शूद्रके लिए वेदके अध्ययनका निषेध है, अतः शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है, किन्तु स्मृति, पुराण आदिमें उसके अधिकारका निषेध नहीं किया जाता ।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्य उपनिषत्के चौथे अध्यायमें संवर्गविद्या कही गई है—"आजहारेमाः शूद्र अनेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथाः" इसका अर्थ है कि जानश्रुति नामक कोई शिष्य हजार गायें, कन्या, मोतियोंका हार एवं कुछ गांव उपहाररूपसे लेकर गुरु रैक्कके पास गया । वहींपर रैक्कका यह वचन है—हे शूद्र जानश्रुति ! हजार गायें आदि जो उपायन तुम लाये हो, इसी कन्या आदि उपायन द्वारा मेरे चित्तको प्रसन्न करके उपदेश कराओगे ।

यहांपर पूर्वपक्षी कहता है कि शूद्र भी वेदविद्याका अधिकारी है, क्योंकि जैसे त्रैवर्णिकेतर देवताओंका वेदाविद्यामें अधिकार है, उसी प्रकार त्रैवर्णिकभिन्न शूद्रका भी विद्यामें अधिकार हो सकता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि देवताओंके साथ शूद्रकी तुलना नहीं की जा सकती । देवताओंका उपनयन न होनेपर भी पूर्वजन्ममें उपार्जित सुकृतसे उन्हें स्वतः वेदोंका भान हो जाता है । शूद्रमें तो वैसा कोई सुकृत नहीं है, अतः उसे अपने आप वेदोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । उपनयन न होनेके कारण वे उसे पढ़ भी नहीं सकते । इसलिए विद्वत्तारूप हेतुके अभावसे शूद्र श्रौतविद्याका अधिकारी नहीं है । तो पूर्वोक्त वाक्यमें जानश्रुतिके लिए प्रयुक्त शूद्रशब्द किस प्रकार संगत होता है ? इसपर कहते हैं-उक्त वाक्यमें कथित शूद्रशब्द यौगिक है, रूढ़ नहीं है । विद्या न होनेसे उत्पन्न हुए शोकसे वह गुरुके पास गया, इसलिए वह शूद्र कहा गया है । रूढ़िसे यौगिक अर्थका बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहां रूढ़ अर्थ लागू नहीं हो सकता । इस उपाख्यानमें सारथि भेजना आदि ऐश्वर्यके कथनसे प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था । शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार न होनेसे मोक्षकी इच्छा होनेपर भी मुक्ति नहीं मिल सकती ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति और पुराण द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर मुक्ति हो सकती है । इससे सिद्ध हुआ कि शूद्र वेदविद्याका अधिकारी नहीं है ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—शुक्, अस्य, तदनादरश्रवणात्, तदाद्रवणात्, सूच्यते, हि ।

पदार्थोक्ति—अस्य—जानश्रुतेः, तदनादरश्रवणात् हंसस्यानादरश्रवणात् [या] शुक् शोकः [उत्पन्ना, सा] सूच्यते हि—शूद्रशब्देन सूच्यते, तदाद्रवणात्—जानश्रुतेः रैक्वं प्रति शुचा गमनात् [जानश्रुतिः शूद्र इत्युच्यते] ।

भाषार्थ—हंससे अपना अनादर सुनकर जानश्रुतिको जो शोक उत्पन्न हुआ, वह शूद्रशब्दसे सूचित किया गया है और शोकसे जानश्रुति रैक्वके पास गया इसलिए शूद्र कहा गया है ।

भाष्य

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तः, तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याऽप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याऽप्यधिकारः

भाष्यका अनुवाद

जैसे मनुष्यका ही विद्यामें अधिकार है इस नियमका अपवाद करके देवता आदिका भी विद्यामें अधिकार स्थापित किया है, उसी प्रकार द्विजातिका ही विद्यामें अधिकार है इस नियमके अपवादसे शूद्रका भी विद्यामें अधिकार हो, इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है ।

रत्नप्रभा

शुगस्य···सूच्यते हि । पूर्वेण अस्य दृष्टान्तसङ्गतिमाह—यथेति । पूर्वत्र देवादीनाम् अधिकारसिद्ध्यर्थं मन्त्रादीनां भूतार्थे विग्रहादौ समन्वयोक्त्या वेदान्तानाम् अपि भूतार्थे ब्रह्मणि समन्वयो दृढीकृतः, अत्राऽपि शूद्रशब्दस्य श्रौतस्य क्षत्रिये समन्वयोक्त्या स दृढीक्रियते इति अधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकस्य अस्मिन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"शुगस्य······सूच्यते हि" । पूर्वाधिकरणके साथ इसकी दृष्टान्तसंगति कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । पूर्वाधिकरणमें देवता आदिका अधिकार सिद्ध करनेके लिए मंत्र आदिका सिद्ध अर्थ शरीर आदिमें समन्वय कहकर उससे वेदान्तोंका भी सिद्ध अर्थ ब्रह्ममें समन्वय दृढ किया है, यहां भी श्रुतिमें पठित शूद्रशब्दका क्षत्रियमें समन्वय कहकर उसीको दृढ करते हैं, इसलिए

भाष्य

स्यादिति तावत् प्राप्तम्, अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति निषेधाश्रवणाद्। यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्याऽनग्नित्वं न तद्विद्यास्वधिकारस्याऽपवादकम्। नह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते। भवति च श्रौतं लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्, संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ब्रह्मविद्यामें शूद्रका भी अधिकार है, क्योंकि अर्थित्व और सामर्थ्यका शूद्रमें भी सम्भव है और 'तस्माच्छूद्रो०' (इसलिए शूद्र यज्ञमें असमर्थ है) इसके समान 'शूद्रो विद्यायाम०' (शूद्र विद्यामें असमर्थ है) इस प्रकार निषेधका श्रवण भी नहीं है। कर्मोंमें शूद्रके अनधिकारका जो कारण अनग्नित्व है, वह विद्याओंमें उसके अधिकारका अपवाद नहीं कर सकता। आहवनीय आदि अग्नियोंसे रहित पुरुष विद्याका सम्पादन नहीं कर सकता यह बात नहीं है। श्रुति भी शूद्रके अधिकारका समर्थन करती है। संवर्गविद्यामें (ब्रह्म) श्रवण

रत्नप्रभा

समन्वयाध्याये अन्तर्भाव इति मन्तव्यम्। पूर्वपक्षे शूद्रस्याऽपि द्विजवद् वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः, सिद्धान्ते तदभाव इति फलम्। अत्र वेदान्तविचारो विषयः, स किं शूद्रम् अधिकरोति न वा इति संभवासंभवाभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—**तत्र शूद्रस्याऽपीत्यादिना**। तस्माद्—अनग्नित्वात्, अनवक्लृप्तः—असमर्थः। विद्यार्थिनि शूद्रशब्दप्रयोगात् लिङ्गादपि शूद्रस्य अधिकार इत्याह—**भवति चेति**। जानश्रुतिः किल षट् शतानि गवां रथं च रैक्काय गुरवे निवेद्य मां शिक्षय इत्युवाच, ततो रैक्को विधुरः कन्यार्थी सन् इदम् उवाच। अहेति निपातः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन दोनों प्रासंगिक अधिकरणोंका समन्वयाध्यायमें अन्तर्भाव है। पूर्वपक्षमें द्विजके समान वेदान्तश्रवणमें शूद्रकी प्रवृत्ति फल है और सिद्धान्तमें प्रवृत्तिका अभाव फल है। यहां वेदान्त-विचार विषय है, वह शूद्रको अधिकार देता है या नहीं, इस प्रकार संभव और असंभवसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र शूद्रस्याऽपि" इत्यादिसे। 'तस्मात्'—शूद्रके अग्निरहित होनेके कारण, 'अनवक्लृप्तः'—असमर्थ। विद्यार्थीमें शूद्रशब्दका प्रयोग है, इस लिंगसे भी विद्यामें शूद्रका अधिकार है। ऐसा कहते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। कहते हैं कि जानश्रुतिने छः सौ गायें और रथ गुरु रैक्वको देकर यह विनती की कि मुझे शिक्षा दीजिये। तब कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा रखनेवाले विधुर रैक्वने कहा। 'अह' यह खेद-

भाष्य

हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४।२।३) इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते । तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याऽधिकारः, वेदाध्ययनाभावात् । अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते । न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च वर्णत्रयविषय-

भाष्यका अनुवाद

करनेकी इच्छा रखनेवाले पौत्रायण जानश्रुतिका रैक्वने 'अह हारेत्वा' (अरे शूद्र, रथ, हार—निष्क और गायें तेरे ही पास रहें) इस प्रकार शूद्रशब्दसे परामर्श किया है । स्मृति भी कहती है कि विदुर आदि शूद्र कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विशिष्ट विज्ञानयुक्त थे । इसलिए शूद्रका विद्यामें अधिकार है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वेदाध्ययन न होनेके कारण शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है ; जिसने भली भाँति वेदका अध्ययन किया हो और वेदका अर्थ जाना हो, उसीका वेदार्थविचारमें अधिकार है । शूद्र तो वेदका अध्ययन कर ही नहीं सकता, क्योंकि वेदाध्ययन उपनयनपूर्वक ही

रत्नप्रभा

खेदार्थः । हारेण—निष्केण युक्त इत्वा—गन्ता रथो हारेत्वा स च गोभिः सह हे शूद्र तवैव अस्तु किमल्पेनाऽनेन मम गार्हस्थ्यानुपयोगिना इति भावः । अर्थित्वादिसंभवे श्रेयस्साधने प्रवृत्तिः उचिता स्वाभाविकत्वात् इति न्यायोपेतात् लिङ्गाद् इत्याह—तस्मादिति ।

सूत्राद् बहिरेव सिद्धान्तयति—न शूद्रस्याऽधिकार इत्यादिना । आपाततो विदितो वेदार्थो येन तस्य इत्यर्थः । अध्ययनविधिना संस्कृतो वेदः तदुत्थम् आपातज्ञानञ्च वेदार्थविचारेषु शास्त्रीयं सामर्थ्यम् , तदभावात् शूद्रस्य अर्थित्वादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाचक निपात है । अरे शूद्र, कण्ठहारके साथ खच्चरियोंसे युक्त रथ और छः सौ गायें अपने ही पास रहने दे, गृहस्थाश्रमके लिए अनुपयुक्त इस अल्प द्रव्यकी मुझे इच्छा नहीं है । अर्थित्व आदि कारण होनेपर कल्याणसाधन—श्रवण आदिमें प्रवृत्ति होनी उचित है, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इस न्यायसे युक्त लिंगसे शूद्र अधिकारी है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे ।

सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त करते हैं—"न शूद्रस्याधिकारः" इत्यादिसे । सामान्यतः वेदार्थका ज्ञान जिसे हुआ है, वह विद्यामें अधिकारी है, ऐसा अर्थ है । अध्ययनसे संस्कृत

भाष्य

यत्वात्। यत्तु अर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति। शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्याऽपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याऽध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्। यच्चेदम्--'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति तत् न्यायपूर्वकत्वाद् विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात्। यत्पुनः

भाष्यका अनुवाद

किया जा सकता है। और उपनयन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका ही होता है। कामना रहनेपर भी यदि सामर्थ्य न हो तो अधिकारकी प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल लौकिक सामर्थ्य ही अधिकारका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी ही अपेक्षा होती है, और अध्ययनके निराकरणसे शास्त्रीय सामर्थ्यका निराकरण भी हो गया। 'शूद्रो यज्ञे०' (शूद्र यज्ञमें असमर्थ है) ऐसा जो कहा गया है, वह न्यायपूर्वक होनेसे विद्यामें भी असामर्थ्यको सूचित करता है, क्योंकि न्याय साधारण है और

रत्नप्रभा

संभवन्यायासिद्धेः नास्ति वेदान्तविचाराधिकार इत्यर्थः। यद्वा, अध्ययनसंस्कृतेन वेदेन विदितो निश्चितो वेदार्थो येन, तस्य वेदार्थेषु विधिषु अधिकारः नाऽन्यस्य, अनधीतवेदस्याऽपि वेदार्थानुष्ठानाधिकारे अध्ययनविधिवैयर्थ्यापातात्। अतः फलपर्यन्तब्रह्मविद्यासाधनेषु श्रवणादिविधिषु शूद्रस्य अनधिकार इत्यर्थः। अधीतवेदार्थज्ञानवत्त्वरूपस्य अध्ययनविधिलभ्यस्य सामर्थ्यस्य अभावादिति न्यायस्य तुल्यत्वाद् यज्ञपदं वेदार्थोपलक्षणार्थमित्याह—**न्यायस्य साधारणत्वादिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेद और उससे उत्पन्न हुआ वेदका साधारण ज्ञान वेदान्तविचारमें शास्त्रीय सामर्थ्य है। शूद्रमें वह सामर्थ्य न होनेसे अर्थित्व आदिका संभव नहीं है, इससे वह वेदान्तविचारका अधिकारी नहीं है। अथवा अध्ययनसे संस्कृत वेदसे जिसने वेदार्थका निश्चय किया है, उसीका वेदार्थविधिमें अधिकार है, अन्यका नहीं है अर्थात् जो वेदाध्ययन नहीं करता उसका अधिकार नहीं है। जिसने वेद नहीं पढ़ा है, उसका भी यदि वेदार्थानुष्ठानमें अधिकार मान लिया जाय तो अध्ययनविधि व्यर्थ हो जायगी। इसलिए फलपर्यन्त ब्रह्मविद्याके साधन जो श्रवण आदि विधियाँ हैं, उनमें शूद्रका अधिकार नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। अध्ययनविधिसे अधीत वेदके अर्थका ज्ञानरूप सामर्थ्य शूद्रमें नहीं है, यह न्याय यज्ञविधि और ब्रह्मविद्यामें तुल्य है, अतः 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इसमें यज्ञपद वेदार्थका उपलक्षक है, ऐसा कहते हैं—"न्यायस्य

भाष्य

संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं न्यायाभावात्, न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति, न चाऽत्र न्यायोऽस्ति। कामं चाऽयं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु अर्थवादस्थत्वात् तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते।

भाष्यका अनुवाद

संवर्गविद्यामें शूद्रशब्दकी श्रुतिको जो तुम लिङ्ग मानते हो, वह वस्तुतः लिङ्ग नहीं है, क्योंकि अनुकूल न्याय नहीं है। लिङ्ग न्यायसङ्गत विषयका ही सूचक हो सकता है। यहां तो न्याय है ही नहीं। भले ही यह शूद्रशब्द केवल संवर्गविद्यामें शूद्रके अधिकारका प्रतिपादन करे, क्योंकि शूद्रशब्द संवर्ग-विद्यामें पठित है, परन्तु सब विद्याओंमें अधिकारका प्रतिपादन नहीं कर सकता। वस्तुतः यह शूद्र शब्द अर्थवादवाक्यमें पठित होनेके कारण किसी भी विद्या-

---

रत्नप्रभा

तस्मात् शूद्र इति तच्छब्दपरामृष्टन्यायस्य यज्ञब्रह्मविद्ययोः तुल्यत्वात् इत्यर्थः। पूर्वोक्तं लिङ्गं दूषयति—यदिति। असामर्थ्यन्यायेन अर्थित्वादिसम्भवन्यायस्य निरस्तत्वादित्यर्थः। ननु 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यत्र अध्ययनाभावेऽपि निषाद-शब्दात् निषादस्य इष्टौ इव शूद्रशब्दात् शूद्रस्य विद्यायाम् अधिकारोऽस्तु—इत्याशङ्क्य संवर्गविद्यायामधिकारमङ्गीकरोति—काममिति। तद्विषयत्वात्—तत्र श्रुतत्वादित्यर्थः। वस्तुतस्तु विधिवाक्यस्थत्वात् निषादशब्दोऽपि अधिकारि-समर्पकः, शूद्रशब्दस्तु विद्याविधिपरार्थवादस्थो नाऽधिकारिणं बोधयति, असामर्थ्य-न्यायविरोधेन अन्यपरशब्दस्य स्वार्थबोधित्वासम्भवादिति मत्वा अङ्गीकारं

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधारणत्वात्" इत्यादिसे। 'तस्माच्छूद्रो०' इसमें 'तत्' शब्द जिस न्यायका परामर्श करता है, वह यज्ञविधि और ब्रह्मविद्यामें तुल्य है। पूर्वोक्त हेतुमें दोष दिखलाते हैं—"यद्" इत्यादिसे। अर्थित्व आदिका सम्भवरूप न्यायका असामर्थ्यरूप न्यायसे निरास किया गया है, इसलिए, ऐसा अर्थ है। परन्तु जैसे 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इसमें अध्ययनके अभावमें भी 'निषाद' शब्दसे निषादका यागमें अधिकार है, वैसे ही शूद्रशब्दसे शूद्रका विद्यामें अधिकार हो ऐसी आशंका करके संवर्गविद्यामें शूद्रके अधिकारका स्वीकार करते हैं—"कामम्" इत्यादिसे। 'तद्विषयत्वात्'—उसमें श्रुत होनेके कारण। वास्तवमें तो विधिवाक्यमें पठित होनेके कारण निषादशब्द निषादको अधिकारी सिद्ध करता है, परन्तु शूद्रशब्द तो विद्याविधिपरक अर्थवाद वाक्यमें रहनेके कारण अधिकारीका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि असामर्थ्यन्यायका विरोध होनेसे अन्यपरक शब्द स्वार्थका बोध करावे, यह संभव नहीं है, ऐसा विचारकर अंगीकृत

भाष्य

शक्यते चाऽयं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषये योजयितुम्। कथमित्युच्यते— 'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थ' (छा० ४।१।३) इत्यस्माद् हंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे,

भाष्यका अनुवाद

में शूद्रके अधिकारका प्रतिपादन नहीं कर सकता। और यह शूद्रशब्द अधिकारवाले (द्विजाति) पुरुषके विषयमें अन्वित हो सकता है। किस प्रकार होता है? यह कहते हैं—'कम्वर एनमेत०' (शकटीयुक्त रैक्वके विषयमें जो कहना चाहिये, उसे इस साधारण मनुष्यके विषयमें कैसे कहते हो?) इस हंसवाक्यसे अपना अनादर सुनकर पौत्रायण जानश्रुतिको शोक उत्पन्न हुआ,

रत्नप्रभा

त्यजति—**अर्थवादेति**। तर्हि शूद्रशब्दस्याऽत्र श्रुतस्य कोऽर्थ इत्याशङ्क्य सूत्रेण अर्थमाह—**शक्यते चेत्यादिना**। जानश्रुतिर्नाम राजा निदाघसमये रात्रौ प्रासादतले सुष्वाप, तदा तदीयान्नदानादिगुणगणतोषिता ऋषयोऽस्य हितार्थं हंसा भूत्वा मालारूपेण तस्य उपरि आजग्मुः, तेषु पाश्चात्यो हंसोऽग्रेसरं हंसमुवाच— भो भो भल्लाक्ष! किं न पश्यसि जानश्रुतेरस्य तेजः स्वर्गं व्याप्य स्थितम्, तत् त्वां धक्ष्यति, न गच्छ इति। तमग्रेसर उवाच—कमपि एनं वराकं विद्याहीनं सन्तम् अरे सयुग्वानं—युग्वा—गन्त्री शकटी तया सह स्थितम्, रैक्कमिव एतद् वचनमात्थ। रैक्कस्य हि ब्रह्मिष्ठस्य तेजो दुरतिक्रमं नाऽस्य अनात्मज्ञस्य इत्यर्थः। अस्मद्वचनात् खिन्नो राजा शकटलिङ्गेन रैक्कं ज्ञात्वा विद्यावान् भविष्यतीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियमका त्याग करते हैं—"अर्थवाद" इत्यादिसे। तब यहां श्रुत शूद्रशब्दका क्या अर्थ है, ऐसी आशंका करके सूत्रसे उसका अर्थ कहते हैं—"शक्यते च" इत्यादिसे। जानश्रुति नामक राजा ग्रीष्म ऋतुमें रात्रिके समय महलके छतपर सोया था, तब उसके अन्नदान आदि अनेक गुणोंसे संतुष्ट हुए ऋषि उसके कल्याणके लिए हंसका रूप धारण करके पंक्तिरूपसे उसके ऊपर आकाशमें उड़ते हुए आये। उनमेंसे पिछले हंसने आगेके हंससे कहा—अरे भल्लाक्ष, क्या तू नहीं जानता है कि जानश्रुतिका तेज स्वर्गमें भी व्याप्त है, वह तुझे भस्म कर देगा, इसलिए आगे मत बढ़। उस पिछले हंसको आगेके हंसने उत्तर दिया—अरे, यह बेचारा विद्याहीन है, इसके लिए तुम उन वचनोंका प्रयोग कर रहे हो, जिनका कि शकटी (गाड़ी) के साथ रहनेवाले रैक्कके लिए प्रयोग किया जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी रैक्कका तेज दुर्लंघ्य है, इस आत्मज्ञानरहित जानश्रुतिका तेज वैसा नहीं है। हमारे वचनोंसे खिन्न होकर राजा शकटीरूप चिह्नसे रैक्कको पहिचान कर

भाष्य

तामृषी रैक्वः शूद्रशब्देनाऽनेन सूचयांबभूवाऽऽत्मनः परोक्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते, जातिशूद्रस्याऽनधिकारात् । कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यते इति ? उच्यते—तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव, शुचा वाऽभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः, अवयवार्थसम्भवाद् रूढ्यर्थस्य चाऽसम्भवात् । दृश्यते चाऽयमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥३४॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतीत होता है कि रैक्व ऋषिने अपने अपरोक्ष ज्ञानको बतलानेके लिए इस शूद्रशब्दसे उसी शोकका सूचन किया है। क्योंकि शूद्रजातिको अधिकार नहीं है। परन्तु राजाको उत्पन्न हुआ शोक शूद्रशब्दसे किस प्रकार सूचित किया गया है ? कहते हैं—उसके आद्रवणसे। वह शोककी ओर अग्रसर हुआ अर्थात् शोकाक्रान्त हुआ अथवा शोकने उसपर आक्रमण किया अथवा शोकसे रैक्वके पास गया, इसलिए वह शूद्र कहा गया है। क्योंकि यहांपर यौगिक अर्थका ही सम्भव है और रूढ अर्थका सम्भव नहीं है। इस आख्यायिकामें यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

हंसानाम् अभिप्रायः। कम् उ अरे इति पदच्छेदः। उशब्दः अप्यर्थः। तेषां हंसानाम् अनादरवाक्यश्रवणात् अस्य राज्ञः शुग् उत्पन्ना, सा शूद्रशब्देन रैक्केन सूच्यते हीति सूत्रान्वयः। श्रुतयौगिकार्थलाभे सति अनन्वितरूढ्यर्थः त्याज्य इति न्यायद्योतनार्थो हिशब्दः। तदाद्रवणात् तया शुचा आद्रवणात्—शूद्रः—शोकं प्राप्तवान्, शुचा वा कर्त्र्या राजा अभिदुद्रुवे—प्राप्तः, शुचा वा करणेन रैक्कं गतवानित्यर्थः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसा हंसोंका अभिप्राय है। 'कम्वरे'—कम्, उ, अरे, ऐसा पदच्छेद है। 'उ'—अपि। उन हंसोंका अनादर वाक्य सुनकर उस राजाको शोक उत्पन्न हुआ, रैक्कने उसी शोकका शूद्रशब्दसे सूचन किया है, ऐसा सूत्रमें अन्वय है। यदि श्रुत यौगिक अर्थका लाभ हो, तो अनन्वित (जिसका अन्वय न होता हो) रूढ्यर्थका त्याग कर देना चाहिए, इस न्यायको सूचित करनेके लिए सूत्रमें 'हि' शब्द है। 'तदाद्रवणात्'—उस शोकसे अभिद्रवण होनेके कारण वह शूद्र कहा गया है अर्थात् वह खिन्न हुआ अथवा शोकने उसपर आक्रमण किया अथवा शोकसे वह रैक्कके पास गया, अतः शूद्र कहा गया है ॥ ३४ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदच्छेद——क्षत्रियत्वगतेः, च, उत्तरत्र, चैत्ररथेन, लिङ्गात् ।

पदार्थोक्ति—क्षत्रियत्वगतेश्च—क्षत्रियत्वज्ञानाच्च (जानश्रुतिः न मुख्य-शूद्रः, तत् कस्मात्) उत्तरत्र—संवर्गविद्यावाक्यशेषे, चैत्ररथेन—चित्ररथवंशीयेन अभिप्रतारिणा क्षत्रियेण, लिङ्गात्—समभिव्याहारात्मकलिङ्गात् ।

भाषार्थ—जानश्रुति क्षत्रिय है ऐसा श्रुतिसे प्रतीत होता है, इसलिए वह मुख्य शूद्र नहीं है । वह क्षत्रिय कैसे समझा जाता है? इससे कि आगे संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चित्ररथके वंशमें उत्पन्न हुए अभिप्रतारी नामक क्षत्रियके साथ उसका कथन है ।

——*——

भाष्य

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः, यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाऽभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गाद् गम्यते । उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी जानश्रुति जातिसे शूद्र नहीं है, क्योंकि प्रकरणके निरूपणसे आगे चैत्ररथ अभिप्रतारी क्षत्रियके साथ इसका निर्देश किया गया है, उससे यह क्षत्रिय प्रतीत होता है । आगे—संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका कथन है—'अथ ह शौनकम्०' (जब कि शुनकके पुत्र कापेय और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीके लिए परोसा जा रहा था, तब उनसे एक

रत्नप्रभा

शूद्रशब्दस्य यौगिकत्वे लिङ्गमाह—क्षत्रियत्वेति । संवर्गविद्याविध्यनन्तरम् अर्थवाद आरभ्यते । शुनकस्य अपत्यं कपिगोत्रं पुरोहितम् अभिप्रतारिनामकं राजानं च कक्षसेनस्य अपत्यं सूदेन परिविष्यमाणौ तौ भोक्तुम् उपविष्टौ वटुः

रत्नप्रभाका अनुवाद

शूद्र शब्दको यौगिक माननेमें हेतु देते हैं—"क्षत्रियत्व०" इत्यादिसे । संवर्गविद्याके अनन्तर अर्थवादका आरम्भ होता है । शुनकका अपत्य कपिगोत्रमें उत्पन्न पुरोहित और कक्षसेनका अपत्य अभिप्रतारी नामका राजा, ये दोनों भोजन करनेके लिए बैठे थे और

भाष्य

परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४।३।५) इति। चैत्ररथित्वं चाऽभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्, कापेययोगो हि चित्ररथस्याऽवगतः 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्यब्रा० २०।१२।५) इति। समानान्वयानाश्च, प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात् क्षत्रियत्वमस्याऽवगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाऽभिप्रतारिणा सह समानायां संवर्गविद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी)। अभिप्रतारी चैत्ररथके वंशका था, यह कापेयके संबन्धसे ज्ञात होता है 'एतेन वै चित्ररथं०' (इस द्विरात्रयज्ञसे कापेयोंने चैत्ररथको यज्ञ कराया) इससे चित्ररथका कापेयके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्रायः समानवंशवाले समानवंशवालोंके याजक होते हैं। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः०' (चैत्ररथि नामका क्षत्रपति चित्ररथसे जन्मा) इस प्रकार उसके क्षत्रपति प्रतीत होनेसे निश्चय होता है कि वह क्षत्रिय था। उस क्षत्रिय अभिप्रतारीके साथ समान विद्यामें जानश्रुतिका सङ्कीर्तन उसके क्षत्रियत्वको सूचित करता है, क्योंकि प्रायः

रत्नप्रभा

भिक्षितवानित्यर्थः। ननु अस्य चैत्ररथित्वं न श्रुतमित्यत आह—चैत्ररथित्वञ्चेति। एतेन द्विरात्रेण इति छान्दोग्यश्रुत्यैव पूर्वं चित्ररथस्य कापेययोग उक्तः अभिप्रतारिणोऽपि तद्योगात् चित्ररथवंश्यत्वं निश्चीयते। राजवंश्यानां हि प्रायेण पुरोहितवंश्याः याजका भवन्तीत्यर्थः। ननु अस्तु अभिप्रतारिणः चैत्ररथित्वम्, तावता कथं क्षत्रियत्वम्, तत्राऽऽह—तस्मादिति। चित्ररथात् इत्यर्थः। क्षत्ता-सूतः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

रसोइया परोस रहा था, इतनेमें उनसे एक ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि श्रुतिमें कहींपर भी यह चैत्ररथि है ऐसा नहीं कहा गया है, उसपर कहते हैं—"चैत्ररथित्वं च" इत्यादिसे। "एतेन"—इससे, अर्थात् द्विरात्रेष्टिसे, इससे पूर्व छान्दोग्य श्रुतिमें ही चित्ररथके साथ कापेयका संबन्ध कहा गया है और अभिप्रतारीका भी कापेयके साथ सम्बन्ध होनेसे वह चित्ररथके वंशका है, ऐसा निश्चय होता है, प्रायः राजवंशियोंके यज्ञ करानेवाले पुरोहितवंशके ही होते हैं, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि अभिप्रतारी भले ही चित्ररथके वंशमें उत्पन्न हुआ हो, किन्तु इससे वह क्षत्रिय है यह कैसे

भाष्य

प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः। अतो न शूद्रस्याऽधिकारः॥ ३५॥

भाष्यका अनुवाद

समानोंका ही एक साथ निर्देश होता है, सारथि इत्यादि ऐश्वर्यके योगसे भी प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था। इससे सिद्ध हुआ कि श्रौत विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है॥ ३५॥

रत्नप्रभा

तस्य रैक्वान्वेषणाय प्रेषणम्, अन्नगोदानादिकं च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वे लिङ्गम्। अत्र शूद्रशब्दो यौगिक एवेति न शूद्रस्य अधिकार इति स्थितम्॥ ३५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समझा जाय? इसपर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। 'तस्मात्'-अर्थात् चित्ररथसे। क्षत्ता-सूत। रैक्वके अन्वेषण करनेके लिए सारथिको भेजना, अन्नदान, गोदान आदि करना जानश्रुतिको क्षत्रिय सिद्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें विद्यमान शूद्र-शब्द यौगिक है, इसलिए शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है॥ ३४॥

—o—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

पदच्छेद—संस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापात्, च।

पदार्थोक्ति—संस्कारपरामर्शात्—'तं होपनिन्ये' 'अधीहि भगव इति होपससाद' इत्यादिविद्याप्रदेशेषु उपनयनादिसंस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापाच्च—'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' इत्यादिना शूद्रस्य उपनयनादिसंस्काराभावाभिधानाच्च [न विद्यायां शूद्रस्याऽधिकारः]।

भाषार्थ—'तं होप०' (उसका उपनयन किया), 'अधीहि भगव०' (हे भगवन्! मुझे विद्याका उपदेश दीजिए ऐसा कहते हुए नारद सनत्कुमारके पास गये) इत्यादि विद्याप्रकरणमें उपनयन आदि संस्कारका परामर्श किया गया है और 'न शूद्रे पातकं०' (शूद्रको कोई पाप नहीं है, न वह संस्कारके योग्य है) इत्यादिसे शूद्रके लिए उपनयन आदि संस्कारोंका निषेध किया गया है, इस कारणसे शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है।

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुप-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि 'तं होपनिन्ये' (उसका उपनयन किया) 'अधीहि भगव०' (हे भगवन् ! मुझे उपदेश दीजिए, ऐसा कहते हुए नारद सनत्कुमारके पास गये), 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः०' (पिप्पलाद हमारे सब सन्देहोंको दूर करेंगे ऐसा निश्चय कर वेदोंमें पारंगत, ब्रह्मनिष्ठ, परब्रह्मकी खोजमें लगे हुए छः ऋषि हाथमें समिध लेकर भगवान् पिप्पलादके पास गये) इस प्रकार विद्याओंके प्रकरणमें उपनयन आदि संस्कारोंका कथन

रत्नप्रभा

तत्र लिङ्गान्तरमाह—**संस्कारेति**। उपनयनं वेदग्रहणाङ्गं शूद्रस्य नास्तीति पूर्वमुक्तम्, इह विद्याग्रहणाङ्गस्य उपनयनसंस्कारस्य सर्वत्र परामर्शात् शूद्रस्य तदभावाद् न विद्याधिकार इत्युच्यते। भाष्ये आदिपदेन अध्ययनगुरुशुश्रूषादयो गृह्यन्ते। तं शिष्यम् आचार्य उपनीतवान् इत्यर्थः। नारदोऽपि विद्यार्थी मन्त्रम् उच्चारयन् सनत्कुमारमुपगत इत्याह—**अधीति**। उपदिशेति यावत्। ब्रह्मपराः—वेदपारगाः, सगुणब्रह्मनिष्ठाः, परं निर्गुणं ब्रह्म अन्वेषमाणाः; एषः—पिप्पलादः, तत्—जिज्ञासितं सर्वं वक्ष्यतीति निश्चित्य ते भारद्वाजादयः षडर्षयः तमुपगता

रत्नप्रभाका अनुवाद

विद्यामें शूद्रके अनधिकारका समर्थक दूसरा हेतु देते हैं—"संस्कार०" इत्यादिसे। वेदाध्ययनका अंगभूत उपनयन शूद्रका नहीं होता, यह कहा जा चुका है। यहाँ विद्याके ग्रहणके अंगभूत उपनयन संस्कारका सर्वत्र परामर्श होने और शूद्रके लिए उसका विधान न होनेसे शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं। भाष्यस्थ "उपनयनादयः" के आदि पदसे अध्ययन, गुरुसेवा आदिका ग्रहण है। 'तं होपनिन्ये' अर्थात् आचार्यने विद्यार्थी शिष्यका उपनयन किया। विद्यार्थी नारद भी मन्त्रका उच्चारण करते हुए सनत्कुमारके पास गये, ऐसा कहते हैं—"अधीहि" इत्यादिसे। 'अधीहि'—उपदेश करो, 'ब्रह्मपराः'—वेदविद्यामें पारंगत, सगुण ब्रह्मके ध्यानमें लीन और निर्गुण—परब्रह्मकी खोज करनेवाले भारद्वाज आदि ये छः ऋषि पिप्पलाद हमारी सब जिज्ञासाओंको पूर्ण करेंगे—ऐसा निश्चय करके उनके पास

भाष्य

सन्नाः' (प्र० १।१) इति च, 'तान् हानुपनीयैव' (छा० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४) इत्येकजातित्वस्मरणात्, 'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२।६) इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

है। 'तान् हानु०' (उनका उपनयन किये बिना ही) इसमें भी उपनयनकी प्राप्ति दिखाई ही गई है। शूद्रके संस्कार नहीं होते हैं, यह कहा गया है। 'शूद्रश्चतुर्थो०' (शूद्र चतुर्थ वर्ण एवं उपनयनरहित है) इस प्रकार स्मृतिमें वह एकजाति कहा गया है। 'न शूद्रे पातकं०' (शूद्रमें कुछ पाप नहीं और वह संस्कारके योग्य नहीं है) इत्यादिसे भी संस्कारोंके अभावका अभिधान है ॥३६॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। ननु वैश्वानरविद्यायाम् ऋषीन् राजा अनुपनीयैव विद्याम् उवाच इति श्रुतेरनुपनीतस्य अपि अस्ति विद्याधिकार इत्यत आह—तान् हेति। "ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे" (छा० ५।११।७) इति पूर्ववाक्ये ब्राह्मणाः उपनयनार्थम् आगता इति उपनयनप्राप्तिं दर्शयित्वा निषिध्यते। हीनवर्णेन उत्तमवर्णाः अनुपनीयैव उपदेष्टव्या इति आचारज्ञापनार्थमित्यर्थः। एकजातिः—अनुपनीतः। पातकम्—अभक्ष्यभक्षणकृतम् ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गये, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। परन्तु वैश्वानर विद्यामें सुना जाता है कि ऋषियोंका उपनयन किये बिना ही उन्हें विद्याका उपदेश किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि उपनयनरहितका भी विद्यामें अधिकार है, इसपर कहते हैं—"तान् हा०"। "ते ह समित्पाणय०" (वे हाथमें समिध लेकर दोपहरसे पहिले उनके पास गये) इस पूर्व वाक्यमें ब्राह्मण उपनयनके लिए आये, इस प्रकार उपनयनकी प्राप्ति दिखाकर निषेध किया है। हीनवर्ण उत्तम वर्णको उपनयन किये बिना उपदेश करे, इस आचारको बतलानेके लिए ऐसा कहा है। 'एकजाति'—जिसका उपनयन संस्कार नहीं होता है। 'पातकम्'—अभक्ष्यके भक्षणसे उत्पन्न हुआ पाप॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

पदच्छेद—तदभावनिर्धारणे, च, प्रवृत्तेः ।

पदार्थोक्ति—तदभावनिर्धारणे जाबालस्य सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावनिश्चये सत्येव, प्रवृत्तेः—गौतमस्य विद्योपदेशे प्रवृत्तिदर्शनाद्, च—अपि [ज्ञायते न शूद्रस्याधिकार इति] ।

भाषार्थ—सत्यवचनसे यह निश्चय होनेपर ही कि जाबाल शूद्र नहीं है, किन्तु ब्राह्मण है, गौतम जाबालके लिये विद्याका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हुए, इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है ।

रत्नप्रभा

सत्यकामः किल मृतपितृको जबालां मातरम् अपृच्छत्—किंगोत्रोऽहमिति । तं माता उवाच—भर्तृसेवाव्यग्रतया अहमपि तव पितुः गोत्रं न जानामि, जबाला तु नाम अहम् अस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि इति एतावद् जानामीति । ततः स जाबालो गौतमम् आगत्य तेन किंगोत्रोऽसीति पृष्ट उवाच—नाऽहं गोत्रं वेद्मि, न माता वेत्ति, परन्तु मे मात्रा कथितम्—उपनयनार्थम् आचार्यं गत्वा सत्यकामो जाबालोऽस्मीति ब्रूहीति । अनेन सत्यवचनेन तस्य शूद्रत्वाभावो निर्धारितः । अब्राह्मण एतत् सत्यं विविच्य वक्तुम् नाऽर्हतीति निर्धार्य, हे सोम्य ! सत्यात् त्वं नाऽगाः—सत्यं न त्यक्तवानसि । अतः त्वाम् उपनेष्ये, तदर्थं समिधम् आहर इति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्यकामने, जिसका पिता पहले ही मर चुका था, अपनी माता जबालासे पूछा कि मेरा कौन गोत्र है ? उससे माताने कहा—स्वामीकी सेवामें व्यग्र रहनेके कारण मैं भी तुम्हारे पिताका गोत्र नहीं जान सकी, मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है, मैं इतना ही जानती हूँ । इसके बाद सत्यकाम गौतमके पास गया और जब गौतमने पूछा कि तुम्हारा कौन गोत्र है, तब सत्यकामने इतना ही कहा कि मैं गोत्र नहीं जानता, मेरी माता भी नहीं जानती, परन्तु माताने कहा है कि उपनयनके लिए आचार्यके पास जाकर कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ । इस सत्य वचनसे आचार्यने निश्चय किया कि वह शूद्र नहीं है । अब्राह्मण सत्य और असत्यका विवेक करके इस प्रकार नहीं बोल सकता, ऐसा निश्चय करके आचार्यने उससे कहा—हे सोम्य ! तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए अर्थात् तुमने सत्यका त्याग नहीं किया, इसलिये मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा, उसके लिए समिध लाओ । इस प्रकार गौतम

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यत् सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते—'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४।४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि सत्य बोलनेसे शूद्रत्वके अभावका निश्चय होनेपर गौतम जाबालका उपनयन करने और उसे विद्याका उपदेश करनेके लिए प्रवृत्त हुए, क्योंकि 'नैतदब्राह्मणो०' (ब्राह्मणेतर इस प्रकार सरलतासे सत्यवचन नहीं बोल सकता है। हे सोम्य ! समिध लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा, तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए) ऐसी श्रुति है ॥३७॥

रत्नप्रभा

गौतमस्य प्रवृत्तेश्च लिङ्गात् न शूद्रस्य अधिकार इत्याह—**तदभावेति** ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका उपनयन करनेके लिए प्रवृत्त हुए। गौतमकी इस प्रवृत्तिसे भी प्रतीत होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदभाव" इत्यादिसे ॥३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेः, च ।

पदार्थोक्ति—स्मृतेः—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' 'तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इत्यादि स्मृतितः, श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्—वेदश्रवणस्य वेदाध्ययनस्य वेदार्थज्ञानानुष्ठानयोश्च निषेधात्, च—अपि [शूद्रस्य न विद्यायामधिकारः]।

भाषार्थ—'अथास्य वेद०' (समीपसे वेदको सुनते हुए शूद्रके कान सीसे और लाहसे भर देने चाहिएँ), 'तस्माच्छूद्र०' (इसलिए शूद्रके समीपमें अध्ययन नहीं करना चाहिए), 'न शूद्राय०' (ब्राह्मणको चाहिए कि शूद्रके लिए ज्ञानका उपदेश न करे), 'द्विजातीनाम्' (वेदाध्ययन, यज्ञ और दानका अधिकार द्विजातियोंको ही है) इत्यादि स्मृतियोंसे शूद्रके लिए वेदके श्रवण, अध्ययन अर्थज्ञान एवं अनुष्ठानका निषेध किया गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है।

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति, वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत्—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति, 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाऽध्ययनप्रतिषेधः, यस्य हि समीपेऽपि नाऽध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत। भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अत एव चाऽर्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति,

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके लिए श्रवण, अध्ययन और अर्थका निषेध करती है। स्मृतिमें शूद्रके लिए वेदके श्रवण, वेदके अध्ययन और वेदार्थके ज्ञान एवं अनुष्ठानका निषेध है। 'अथास्य वेदमुप०' (समीपसे वेदका श्रवण करनेवाले शूद्रके दोनों कानोंको सीसे और लाहसे भर दे) और 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं०' (शूद्र निःसन्देह जङ्गम श्मशान है, इसलिए शूद्रके समीपमें अध्ययन नहीं करना चाहिए) इस प्रकार श्रवणका निषेध है। इसीसे अध्ययनका निषेध भी सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीपमें भी अध्ययन करना युक्त नहीं, वह अश्रुतका अध्ययन किस प्रकार कर सकता है ? यदि शूद्र वेदका उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिए, यदि वेदको याद करे तो उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ, ऐसी स्मृति भी है। इसी हेतुसे अर्थात् शूद्रके लिए अर्थज्ञान और अनुष्ठानका भी निषेध होता है—'न शूद्राय०' (ब्राह्मणको चाहिए कि शूद्रको वेदार्थज्ञान न दे)

रत्नप्रभा

स्मृत्या श्रवणादिनिषेधाच्च न अधिकार इत्याह—**श्रवणेति**। अस्य शूद्रस्य द्विजैः पठ्यमानं वेदं प्रमादात् शृण्वतः सीसलाक्षाभ्यां तप्ताभ्यां श्रोत्रद्वयपूरणं प्रायश्चित्तं कार्यमित्यर्थः। पद्यु—पादयुक्तम्। सञ्चरिष्णुरूपमिति यावत्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिमें शूद्रके लिए वेदश्रवण आदिका निषेध किया गया है, इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"श्रवण" इत्यादिसे। 'अथ०'—यह शूद्र द्विजोंसे पढ़े जाते हुए वेदको प्रमादसे भी यदि सुन ले, तो उसके लिए यह प्रायश्चित्त है कि सीसे और लाहको तपाकर उससे उसके दोनों कान भर देने चाहिएँ, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'पद्यु'—पादयुक्त

भाष्य

'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याऽधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्॥ ३८॥

भाष्यका अनुवाद

और 'द्विजातीना०' (केवल द्विजोंके लिए ही अध्ययन, यज्ञ और दानका विधान है)। परन्तु विदुर धर्मव्याध आदि जिनको पूर्वकर्मके संस्कारोंसे ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उनके लिए फलप्राप्तिका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचरित फल उत्पन्न करता है। 'श्रावयेच्च०' (चारों वर्णोंको सुनावे) इस प्रकार स्मृति इतिहास और पुराणका ज्ञान प्राप्त करनेमें चारों वर्णोंका अधिकार बतलाती है। इससे सिद्ध हुआ कि वेदाध्ययनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेका शूद्रको अधिकार नहीं है॥ ३८॥

रत्नप्रभा

भवति च स्मृतिः इति शेषः। मतिम्—वेदार्थज्ञानम्। दानं नित्यं निषिध्यते शूद्रस्य नैमित्तकं तु दानम् अस्त्येव। यदुक्तं विदुरादीनां ज्ञानित्वं दृष्टमिति, तत्राऽऽह—येषामिति। सिद्धानां सिद्धेः दुरपहरत्वेऽपि साधकैः शूद्रैः कथं ज्ञानं लब्धव्यमित्यत आह—श्रावयेदिति॥ ३८॥ (१)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् संचरणशील। 'भवति च' के बाद 'स्मृतिः' इतना शेष समझना चाहिए। 'मति'—वेदार्थका ज्ञान। नित्य दानका शूद्रके लिए निषेध है, नैमित्तिक दान तो वह कर ही सकता है। यह जो कहा गया है कि विदुर आदि ज्ञानी थे, यह स्मृतिसिद्ध है, इसपर कहते हैं—"येषाम्" इत्यादि। सिद्धोंकी सिद्धि तो रोकी नहीं जा सकती, तो भी साधक शूद्र किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे? इसपर कहते हैं—"श्रावयेद्" इत्यादि॥३८॥

---

(१) 'दानञ्च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च' इस वचनसे 'द्विजातीनामिज्याध्ययनं दानम्' इस वचनके विरोधका परिहार करते हैं—नित्यदान इत्यादिसे।

[१० कम्पनाधिकरण सू० ३९]

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः ।
अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥१॥
वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः ।
भयहेतुश्चालनन्तु सर्वशक्तियुतत्वतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस श्रुतिमें कथित जगत्को कम्पित करनेवाला प्राण वज्र है अथवा वायु है या ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—भयजनक होनेके कारण वह प्राण वज्र हो सकता है अथवा देह आदिका संचालक होनेके कारण वायु हो सकता है ।

सिद्धान्त—उक्त प्राणके ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति कही गई है, इससे प्रतीत होता है कि वह ईश्वर ही है । वह अन्तर्यामी होनेके कारण भयजनक हो सकता है एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न होनेके कारण संचालक भी हो सकता है ।

---

* कठोपनिषत्की छठी वल्लीमें श्रुति है—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥" अर्थात्—उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् निमित्तभूत प्राणके रहते ही चेष्टा करता है । वह वस्तु जो कि प्राणशब्दसे कही गई है, प्रहार करनेके लिए उठाए हुए वज्रके समान भयङ्कर है । प्राणशब्दप्रतिपाद्य उस पदार्थको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।

जगत्की चेष्टाके हेतुभूत उक्त प्राणमें तीन प्रकारका सन्देह होता है—वह अशनि है या वायु है अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह वज्र हो सकता है, क्योंकि 'महद्भयम्' से वह भयङ्कर कहा गया है अथवा वायु हो सकता है, क्योंकि 'प्राण एजति' से वह देह आदिका चालक प्रतीत होता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त श्रुतिमें पठित प्राणशब्द ईश्वरका ही प्रतिपादक है, क्योंकि 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इससे उसे जाननेवालेके लिए मोक्षकी प्राप्ति कही गई है । सबके अन्तर्यामी होनेके कारण ही वह भयका हेतु भी कहा जा सकता है । 'भीषास्माद्वातः पवते' इत्यादि दूसरी श्रुतियोंसे भी ईश्वर ही भयका हेतु जाना जाता है । देह आदिका चालन करना भी सर्वशक्तिशाली होनेके कारण ईश्वरमें उपपन्न होता है । इससे सिद्ध हुआ कि प्राणशब्दप्रतिपाद्य ईश्वर ही है ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थोक्ति—कम्पनात्—['यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानः प्राणः परमात्मैव, कुतः] सर्वस्य सवायुकस्य जगतो जीवनादिचेष्टाहेतुत्वात् ।

भाषार्थ—'यदिदं किञ्च०' (यह सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्रेरक प्राणके रहते चेष्टा करता है, इस श्रुतिमें प्रतीयमान प्राण परब्रह्म ही है, क्योंकि वायुसहित सारे जगत्की जीवन आदि चेष्टाओंका कारण वही है ।

भाष्य

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः । 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति ।

भाष्यका अनुवाद

प्रासंगिक अधिकारका विचार समाप्त हुआ । अब आगे पूर्वानुसार वाक्यार्थका ही विचार करेंगे । 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं०' (यह सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्रेरक प्राणके रहते चेष्टा करता है, वह प्राण अपरिच्छिन्न एवं प्रहार करनेके लिए उठाए हुए वज्रके समान भयानक है, जो उसको जानते हैं, वे

रत्नप्रभा

कम्पनात् । अस्याऽपि प्रासंगिकत्वम् आशङ्क्याऽऽह—**अवसित इति** । समाप्त इत्यर्थः । काठकं पठति—**यदिदमिति** । सर्वं जगत् प्राणात् निस्सृतम्—उत्पन्नम् प्राणे चिदात्मनि प्रेरके सति एजते—चेष्टते, तच्च प्राणाख्यं कारणं महद् ब्रह्म बिभेति अस्मादिति भयम् । तस्मिन् भयहेतुत्वे दृष्टान्तमाह—**वज्रमिति** । यथा उद्यतं वज्रं भयं तथा इत्यर्थः । ये तत् प्राणाख्यं ब्रह्म निर्विशेषं विदुः ते मुक्ता भवन्ति इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह अधिकरण भी प्रासंगिक है, ऐसी शंका करके कहते हैं—"अवसितः" इत्यादि । अर्थात् समाप्त हुआ । काठकवाक्यको उद्धृत करते हैं—"यदिदम्" इत्यादिसे । सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्राण अर्थात् चिदात्माके प्रेरक होनेसे वह (जगत्) व्यापार करता है, वह प्राणसंज्ञक कारण महद्—ब्रह्म और भयहेतु होनेसे भय है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—"वज्र" इत्यादिसे । जैसे प्रहार करनेके लिए उठाया हुआ वज्र भयजनक है, वैसे ही ब्रह्म भयजनक है । जो इस प्राणसंज्ञक

भाष्य

एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन् वाक्ये सर्वमिदं जगत् प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किञ्चिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतम्, तद्विज्ञानाच्चाऽमृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किञ्च तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत् प्रसिद्धेः पञ्चवृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

अमृत हो जाते हैं) इस वाक्यमें 'एजृ' कम्पने (एजृ धातु कम्पनार्थक है) इस धातुके अर्थका अनुगम है इससे यह वाक्य लक्षित होता है। इस वाक्यमें यह सारा जगत् प्राणके सहारे व्यापार करता है, वह उद्यत वज्रके समान भयजनक कोई अपरिच्छिन्न है और उसके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा सुना जाता है। उसमें यह प्राण कौन है और वह भयानक वज्र कौन है इसके निश्चय न होनेसे विचार करनेपर लोकप्रसिद्धिसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राण

रत्नप्रभा

य इति। ननु अस्मिन् सूत्रे कथमिदं वाक्यमुदाहृतम् इत्यत आह—**एतदिति**। एजत्यर्थस्य कम्पनस्य सूत्रितत्वात् एजतिपदयुक्तं वाक्यम् उदाहृतमित्यर्थः। प्रासङ्गिकाधिकारचिन्तयाऽस्य सङ्गतिः नाऽपेक्षिता इति "शब्दादेव प्रमितः" [ब्र० १।३।२३] इत्यनेनोच्यते। तत्र अङ्गुष्ठवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यज्ञानार्थ इत्युक्तम्, न तथेह प्राणानुवाद ऐक्यज्ञानार्थः संभवति, प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य ऐक्यायोगात्, अतः प्राणोपास्तिपरं वाक्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—**प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिरिति**। ननु "अत एव प्राणः" [ब्र० १।१।२३] इत्यादौ ब्रह्मणि लिङ्गात् प्राणश्रुतिर्नीता, अत्राऽपि सर्वचेष्टाभयहेतुत्वं ब्रह्मलिङ्गमस्तीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्गुणब्रह्मको जानते हैं, वे मुक्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—"यः" इत्यादिसे। परन्तु इस सूत्रमें इस वाक्यको कैसे उद्धृत किया, इसपर कहते हैं—"एतद्" इत्यादि। 'एजति' का कंपन अर्थ है, वह सूत्रमें कहा गया है, इसलिए 'एजति' पदयुक्त वाक्य उद्धृत किया गया है, ऐसा अर्थ है। प्रसंगप्राप्त अधिकारचिन्ताके साथ इस अधिकरणकी संगति अपेक्षित नहीं है, इसलिए प्रमिताधिकरणके साथ इसकी संगति कही जाती है। प्रमिताधिकरणमें अंगुष्ठवाक्यमें स्थित जीवका अनुवाद ब्रह्माभेदज्ञानके लिए है, ऐसा कहा गया है, उस प्रकार यहां प्राणका अनुवाद ऐक्यज्ञानके लिए नहीं हो सकता है, क्योंकि प्राणके स्वरूपसे कल्पित पदार्थका अभेद नहीं हो सकता है, इसलिए यह वाक्य प्राणोपासनापरक है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिः" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि

भाष्य

वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाऽशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते। कथम्? सर्वमिदं जगत् पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते। वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति।

भाष्यका अनुवाद

पाँच वृत्तिवाला वायु है और लोकप्रसिद्धिसे ही प्रतीत होता है कि भयानक वज्र अशनि है। यह वायुका माहात्म्य कहा गया है। किस प्रकार? यह सारा जगत् पाँच वृत्तिवाले प्राण नामक वायुमें रहकर व्यापार करता है। वायुसे ही महान् भयानक वज्र उठाया जाता है, क्योंकि जब वायु पर्जन्यरूपमें विवर्तित—परिणत होता है, तब बिजली, मेघ, वृष्टि और अशनिरूपमें भी विवर्त्तित होता है, ऐसा कहते हैं। वायुके ज्ञानसे ही यह अमृतत्व भी प्राप्त होता है, क्योंकि 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' (वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है, जो ऐसा जानता है, वह अपमृत्युको जीतता है) ऐसी दूसरी श्रुति है। इसलिए यहां प्राणको वायु ही समझना युक्त है।

रत्नप्रभा

नास्ति पूर्वपक्षावसरः गतार्थत्वादित्यत आह—**वायोश्चेति**। प्रतिष्ठाय—स्थितिं लब्ध्वा प्राणे वायौ निमित्ते जगत् चलतीति प्रसिद्धम्, अतः स्पष्टं ब्रह्मलिङ्गम् नास्तीति भावः। वज्रलिङ्गाच्च वायुरित्याह—**वाय्विति**। व्यष्टिः—विशेषः, समष्टिः—सामान्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अत एव प्राणः' सूत्रमें ब्रह्मलिंग होनेके कारण प्राणश्रुति ब्रह्मपरक कही गई है, यहां भी सर्वचेष्टाभयहेतुत्वरूप ब्रह्मलिंग है, इसलिए पूर्वपक्षका अवकाश ही नहीं है, क्योंकि उसी सूत्रसे यह गतार्थ है, इसपर कहते हैं—'वायोश्च' इत्यादि। 'प्रतिष्ठाय'—स्थिति पाकर, वायुसे जगत्के सब व्यवहार होते हैं, यह प्रसिद्ध है, इसलिए ब्रह्मका स्पष्ट लिंग नहीं है यह भाव है। वज्ररूप लिंगसे भी मंत्रप्रतिपाद्य वायु ही है, ऐसा कहते हैं—"वायु" इत्यादिसे। 'व्यष्टि'—विशेष, 'समष्टि'—सामान्य।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः ? पूर्वोत्तरालोचनात्। पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि। पूर्वत्र तावत्

'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥' (का० २।६।१)

इति ब्रह्म निर्दिष्टम्, तदेवेहाऽपि संनिधानात्, 'जगत्सर्वं प्राण एजति' इति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति दर्शनात्। एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य। तथा चोक्तम्—

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां प्राणको ब्रह्म ही समझना युक्त है। किससे ? पूर्वापर आलोचन करनेसे, क्योंकि जब हमें प्रतीत हो रहा है कि पूर्व और उत्तर ग्रन्थ-भागोंमें ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है, तब यहींपर बीचमें एकदम वायुका निर्देश हम कैसे समझ लें ? 'तदेव शुक्रं० (वही जो इस संसारवृक्षका मूल है, वही स्वप्रकाश है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहलाता है, उसीमें सब लोक आश्रित हैं, उसका कोई अतिक्रमण ही नहीं कर सकता) इस प्रकार पूर्ववाक्यमें जो ब्रह्म निर्दिष्ट है, यहां भी सन्निधानसे और सर्व जगत् प्राणमें चेष्टा करता है, इस तरह लोकोंमें आश्रयत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञा होनेसे उसीका निर्देश है ऐसा समझा जाता है। यह प्राणशब्द भी परमात्मामें ही प्रयुक्त है, क्योंकि 'प्राणस्य प्राणम्' (वह प्राणका प्राण है) ऐसा देखनेमें आता है। यह चेष्टा करना—प्रेरक होना भी परमात्मामें ही युक्त है, वायुमात्रमें नहीं,

रत्नप्रभा

सूत्रात् बहिरेव सिद्धान्तं प्रतिजानीते—ब्रह्मैवेति। पूर्वोत्तरवाक्यैकवाक्यतानुगृहीतं सर्वाश्रयत्वं लिङ्गं वाक्यभेदकप्राणश्रुतेर्बाधकमित्याह—पूर्वत्रेत्यादिना। शुक्रम्—स्वप्रकाशम्। तदु नात्येति। ब्रह्मानाश्रितः कोऽपि लोको नास्त्येव इति उकारार्थः। सौत्रलिङ्गं व्याचष्टे—एजयितृत्वमिति। सवायुकस्य सर्वस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त करते हैं—"ब्रह्मैव" इत्यादिसे। पूर्वोत्तर वाक्योंकी एकवाक्यतासे अनुगृहीत सर्वाश्रयत्वरूप लिंग वाक्यभेदक प्राणश्रुतिका बाधक है, ऐसा कहते हैं—"पूर्वत्र" इत्यादिसे। 'शुक्रम्'—स्वप्रकाश। 'तदु नात्येति'—ऐसा कोई लोक नहीं ही है जो ब्रह्मके आश्रित न हो यह अवधारण उकारका अर्थ है। सूत्रप्रतिपादित लिङ्गका व्याख्यान करते हैं—"एजयितृत्वम्" इत्यादिसे। आशय यह कि वायुसहित सारे

भाष्य

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥', (का० २।५।५) इति । उत्तरत्राऽपि—

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥' (का० २।६।३) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः, सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात् । तदेवेहाऽपि सन्निधानान्महद्भयं वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते । वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात् प्रयुक्तः । यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद् यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तते, एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'न प्राणेन नापानेन०' (कोई भी प्राणी प्राण या अपानसे नहीं जीता, किन्तु ये दोनों जिसके आश्रित हैं, उससे ही सब जीते हैं) ऐसा कहा है । आगे भी 'भयादस्याग्नि०' (इसके भयसे अग्नि तपती है, इसके भयसे सूर्य तपता है एवं उसके भयसे इन्द्र, वायु और पांचवाँ मृत्यु अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं) इस प्रकार ब्रह्मका ही निर्देश है, वायुका निर्देश नहीं है, क्योंकि वह वायुसहित जगत्‌के भयका हेतु कहा गया है । इस प्रकार यहां सन्निधानसे (प्रकरणसे) और 'महत् भयं०' (उद्यत वज्रके समान भयजनक) भयहेतुत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण उसीका निर्देश है ऐसा समझा जाता है । वज्रका भी भयजनकत्वरूपसादृश्यसे उसमें प्रयोग है । यदि मैं इसकी आज्ञाका पालन नहीं करूँगा तो यह उद्यत वज्र मेरे ही सिरपर पड़ेगा, इस भयसे जैसे लोग राजा आदिके शासनमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार यह अग्नि, वायु, सूर्य आदि जगत् इसी ब्रह्मसे डरता हुआ विनयपूर्वक अपने व्यापारमें प्रवृत्त

रत्नप्रभा

कम्पनश्रवणादपि प्राणः परमात्मैव इत्यर्थः । ब्रह्मणि वज्रशब्दः कथम्? इत्याशङ्क्य गौण इत्याह—वज्रशब्द इति । बृहदारण्यके "वायुरेव व्यष्टिः" [३।३।२]

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्‌का कंपन श्रुतिमें कहा गया है, इससे प्राण परमात्मा ही है । ब्रह्मके लिए वज्रशब्दका प्रयोग किस प्रकार किया गया है, ऐसी आशंका करके "वज्रशब्दः" इत्यादिसे कहते हैं कि

भाष्य

वज्रोपमितं ब्रह्म। तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥' (तै० ८।१) इति।

अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद् ह्यमृतत्वप्राप्तिः, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात् क्वचिदमृतत्वमभिहितम्, तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽ-

भाष्यका अनुवाद

होता है, इसलिए भयानक वज्रके साथ ब्रह्मकी तुलना की गई है और ब्रह्ममें 'भीषास्माद्वातः०' (इसके भयसे वायु चलता है, इसके भयसे सूर्य उदित होता है, इसके भयसे अग्नि, इन्द्र और पांचवाँ मृत्यु अपने-अपने काममें प्रवृत्त होते हैं) ऐसी अन्य श्रुति भी है। अमृतत्वरूप फलके श्रवणसे भी प्रतीत होता है कि प्राण ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, कारण कि 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति०' (उसीको जानकर मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण करता है अर्थात् मुक्त होता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) ऐसी श्रुति है। वायुके विज्ञानसे किसी स्थान पर जो अमृतत्व कहा गया है, वह आपेक्षिक है, क्योंकि वहीं दूसरे प्रकरणमें परमात्माका अभिधान करके 'अतोऽन्यदार्तं०'

रत्नप्रभा

इत्यत्र "अप पुनर्मृत्युम्" (३।३।२) इति अपमृत्युजयरूपम् आपेक्षिकम् अमृतत्वम् उच्यते, न मुख्यामृतत्वम्। तत्रैव वायूपास्तिप्रकरणं समाप्य "अथ हैनमुषस्तः चाक्रायणः पप्रच्छ" (बृ० ३।४।१) इति ज्ञेयात्मानमुक्त्वा वाय्वादेः नाशित्वोक्तेः इत्याह—यत्तु वाय्वित्यादिना। तस्मात् काठकवाक्यं ज्ञेये समन्वितमिति सिद्धम्॥ ३९॥ (१०)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह गौण है। बृहदारण्यकमें 'वायुरेव०' (वायुही व्यष्टि है) इस स्थलपर 'अप पुन०' इस प्रकार अपमृत्युजयरूप आपेक्षिक अमृतत्व कहा है, मुख्य अमृतत्व नहीं कहा गया है, क्योंकि वायुकी उपासनाका प्रकरण वहीं समाप्त करके 'अथ हैनमुषस्तः०' इत्यादिसे ज्ञेय आत्माको कहकर वायु आदिको विनाशी कहा है, ऐसा कहते हैं—"यत्तु वायु" इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि काठकवाक्य ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वित है॥ ३९॥

भाष्य

न्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात् । प्रकरणादप्यत्र परमात्मनिश्चयः ।

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (का० १।२।१४)

इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

(उससे अन्य विनाशी है) इस प्रकार वायु आदिको विनाशी कहा है । और प्रकरणसे भी यहां परमात्माका ही निश्चय होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा०' (जो धर्मसे भिन्न है, अधर्मसे भिन्न है, इस कार्य और कारणसे भिन्न है, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानसे भिन्न है, एवंभूत जिसको आप देखते हो, उसका हमारे लिए उपदेश कीजिए) इस प्रकार परमात्मा ही पूछा गया है ॥३९॥

[११ ज्योतिरधिकरण सू० ४०]

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् ।
समुत्थायोपसम्पद्येत्युक्त्या स्याद्रविमण्डलम् ।१॥
समुत्थानं त्वम्पदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् ।
सम्पत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षसाक्षितः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इस वाक्यमें पठित 'परं ज्योतिः' पद सूर्यमण्डलका वाचक है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—'शरीरसे निकलकर और ज्योतिको प्राप्त होकर' इस कथनसे प्रतीत होता है कि पर ज्योति सूर्यमण्डल ही है ।

सिद्धान्त—यहाँ पर समुत्थानका अर्थ निर्गम और सम्पत्तिका अर्थ प्राप्ति नहीं है बल्कि त्वंपदार्थ—जीवका शोधन—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे विवेक समुत्थान है और शोधित जीवका ब्रह्मरूपसे ज्ञान है—सम्पत्ति । श्रुतिमें 'उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार उत्तमताके कथनसे एवं सर्वसाक्षी होनेसे पर ज्योति ब्रह्म ही है ।

---

* छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें प्रजापतिविद्यामें श्रुति है—"य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" । इसका अर्थ है कि सम्प्रसाद—जिस अवस्थामें जीव अत्यन्त प्रसन्न रहता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था, यहाँपर सम्प्रसादशब्दसे जीव लक्षित होता है । यह जीव इस शरीरसे निकलकर, अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर परम ज्योतिको प्राप्त होता है । यहाँपर ज्योतिःशब्दके अर्थके बारेमें सन्देह उपस्थित होता है कि वह सूर्यमण्डल है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँ ज्योतिका अर्थ सूर्यमण्डल ही है, क्योंकि 'शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य' में कहा गया है कि वह शरीरसे निकलकर ज्योतिको प्राप्त होता है । ब्रह्मप्राप्तिमें निर्गम नहीं होता, क्योंकि वहाँ प्राप्तिकर्ता एवं प्राप्तव्यमें भेद ही नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्योतिशब्द ब्रह्म ही का प्रतिपादक है, क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है कि वह उत्तम पुरुष है, उसका सूर्यमण्डलसे सम्बन्ध ही नहीं घटता । जो जानता है कि मैं इसे सूँघता हूँ, वह आत्मा है और जो जानता है कि मैं इसे सुनता हूँ, वह आत्मा है, इत्यादिसे आत्मा घ्राता, घ्राण और घ्रेय एवं श्रोता, श्रवण और श्रोतव्य आदिका साक्षी सुना जाता है । उक्त श्रुतिके साथ एकवाक्यता करनेसे प्रतीत होता है कि ज्योतिःशब्द ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है । और जो यह कहा गया है कि 'शरीरात् समुत्थाय, ज्योतिरुपसम्पद्य' (शरीरसे निकलकर ज्योतिको प्राप्त होता है) ये दोनों ब्रह्मपक्षमें नहीं घटते, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ समुत्थानका अर्थ निर्गम नहीं है किन्तु त्वंपदार्थ अर्थात् जीवका स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे विवेक है और उपसम्पत्तिका अर्थ प्राप्ति भी नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है शोधित त्वंपदार्थका ब्रह्मरूपसे ज्ञान । इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिपद ब्रह्म ही का वाचक है ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

पदच्छेद—ज्योतिः, दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिः—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं [ब्रह्मैव, कुतः] दर्शनात्—'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्युपक्रमालोचनया ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यतयाऽनुवृत्तिदर्शनात् ।

भाषार्थ—'एष सम्प्रसादो०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर पर ज्योतिको प्राप्त करता है) इस श्रुतिमें ज्योतिःशब्दसे प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, क्योंकि 'य आत्मा०' (यह आत्मा पापरहित है) इस उपक्रमवाक्यके पर्यालोचनसे ब्रह्मकी ही प्रतिपाद्यरूपसे अनुवृत्ति देखी जाती है ।

भाष्य

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरारीत् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते । तत्र संशय्यते, किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयं तमोपहं तेजः किंवा परं ब्रह्मेति ? किं तावत्प्राप्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर पर ज्योतिको प्राप्त करता है) इसमें संशय होता है कि ज्योतिःशब्दवाच्य आँखसे देखे जानेवाले घट-पट आदि पदार्थोंके आवरक अन्धकारका नाश करनेवाला तेज है या परब्रह्म ? तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

ज्योतिर्दर्शनात् । छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यावाक्यमाह—**एष इति** । परं-ज्योतिश्श्रुतिभ्यां संशयमाह—**तत्रेति** । घटादिविषयावरकतमोनाशकं सौरमित्यर्थः । पूर्वत्र ब्रह्मप्रकरणस्याऽनुग्राहकः सर्वजगच्चेष्टाहेतुत्वादियोगोऽस्तीति प्राणश्रुतिः ब्रह्मणि नीता, न तथाऽत्र "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।७।१) इति प्रकरण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यस्थ प्रजापतिविद्यावाक्यको कहते हैं—"एषः" इत्यादिसे । पर एवं ज्योतिः शब्दोंके श्रवणसे उत्पन्न हुए सन्देहको कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । घट आदि विषयोंके आवरक अन्धकारका नाश करनेवाला सूर्यका तेज, ऐसा अर्थ है । पूर्व अधिकरणमें ब्रह्मप्रकरणके समर्थक सर्वजगत्व्यापारहेतुत्वरूप लिङ्गके सम्बन्धसे प्राणश्रुति ब्रह्मपरक मानी गई है, उस प्रकार यहाँ "य आत्मा०" इस प्रकरणका अनुग्राहक कोई लिङ्ग नहीं है । इस तरह प्रत्युदा-

भाष्य

प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत् किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे-'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ज्योतिःशब्द प्रसिद्ध तेजका वाचक है, क्योंकि उसमें ज्योतिः-शब्द रूढ़ है। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस सूत्रमें कहा गया है कि प्रकरणसे ज्योतिःशब्द स्वार्थका परित्याग करके ब्रह्मका बोध कराता है, परन्तु यहां उसके समान स्वार्थपरित्यागमें कोई कारण नहीं दीखता। इसी प्रकार नाड़ीखंडमें 'अथ यत्रैतदस्माच्छ०' (शरीरसे निकलनेके अनन्तर इन्हीं रश्मियों द्वारा ऊपर

रत्नप्रभा

स्याऽनुग्राहकं पश्याम इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—**प्रसिद्धमेवेत्यादिना**। पूर्वपक्षे सूर्योपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मज्ञानाद् मुक्तिरिति फलम्। ननु "ज्योतिरधिकरणे" (ब्र० १।१।२४) ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः उक्तत्वात् कथं पूर्वपक्ष इत्यत आह—**ज्योतिरिति**। तत्र गायत्रीवाक्ये प्रकृतब्रह्मपरामर्शकयच्छब्दसामानाधिकरण्यात् ज्योतिश्शब्दस्य स्वार्थत्यागः कृतः, तथाऽत्र स्वार्थत्यागे हेत्वदर्शनात् पूर्वपक्ष इत्यर्थः। ज्योतिश्श्रुतेः अनुग्राहकत्वेनाऽर्चिरादिमार्गस्थत्वं लिङ्गमाह—**तथा चेति**। "ता वा एता हृदयस्य नाड्यः" (छा० ८।६।१) इति कण्डिकया नाडीनां रश्मीनां च मिथः संश्लेषमुक्त्वा अथ—संज्ञालोपानन्तरम् यत्र—काले एतत्—मरणं यथा स्यात् तथा उत्क्रामति अथ—तदा एतैः नाडीसंश्लिष्टरश्मिभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

हरणसङ्गतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"प्रसिद्धमेव" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें सूर्यकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति फल है। परन्तु जब ज्योतिरधिकरणमें ज्योतिःशब्द ब्रह्मका वाचक माना गया है, तब यहाँ पूर्वपक्ष कैसे होता है, इसपर कहते हैं—"ज्योतिः" इत्यादि। वहां गायत्रीवाक्यमें प्रस्तुत ब्रह्मका परामर्शक 'यत्' शब्दके सामानाधिकरण्यसे ज्योतिःशब्दके मुख्यार्थका परित्याग किया गया है, परन्तु यहाँ उस प्रकार अपना अर्थ त्यागनेके लिए कोई हेतु दिखाई नहीं देता, इसलिए पूर्वपक्ष है, ऐसा आशय है। ज्योतिःश्रुतिके अनुग्राहक अर्चिरादिमार्गस्थितिरूप लिङ्ग कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। "ता वा एता०" (वे इस हृदयकी नाड़ियाँ हैं) इत्यादिसे हृदयकी नाड़ियों और रश्मियोंका परस्पर संश्लेष कहकर उसके बाद—

भाष्य

मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात् प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनाऽनुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्याऽऽत्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्; 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या-

भाष्यका अनुवाद

जाता है) इस प्रकार मुमुक्षुके लिए आदित्यकी प्राप्ति कही गई है। इसलिए ज्योतिःशब्द प्रसिद्ध तेजका ही वाचक है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ज्योतिःशब्दवाच्य पर ब्रह्म ही है। किससे? दर्शनसे। इस प्रकरणमें वक्तव्यरूपसे उसकी ही अनुवृत्ति देखनेमें आती है, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (जो आत्मा पापरहित है) ऐसा पापरहितत्व आदि गुणविशिष्ट आत्मा अन्वेषण करने और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, प्रकरणके आरम्भमें ऐसी प्रतिज्ञा की है। 'एतं त्वेव ते भूयो०' (इसी आत्माका तुम्हारे लिए बार-बार उपदेश करता हूँ)

रत्नप्रभा

ऊर्ध्वः सन् उपरि गच्छति, गत्वा आदित्यं ब्रह्मलोकद्वारभूतं गच्छतीति अभिहितम्, तथैव अत्राऽपि शरीरात् समुत्थाय—मृत्वा परं ज्योतिः आदित्याख्यम् उपसम्पद्य तद्द्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा स्वस्वरूपेण अभिनिष्पद्यते इति वक्तव्यम्। 'समुत्थाय' 'उपसम्पद्य' इति क्त्वाश्रुतिभ्यां ज्योतिषोऽर्चिरादिमार्गस्थत्वभानादित्यर्थः। अतो मार्गस्थसूर्योपास्त्या क्रममुक्तिपरं वाक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**एवमिति**। व्याख्येयत्वेन उपक्रान्तः आत्मैव अत्र ज्योतिश्शब्देन व्याख्येय इति ज्योति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

संज्ञालोप होनेके अनन्तर जब मरण होता है, तब इन नाड़ीसम्बद्ध रश्मियों द्वारा ऊपर जाता है, तदुपरान्त ब्रह्मलोकके द्वारभूत आदित्यलोकमें जाता है, ऐसा कहा है, उसी प्रकार यहाँ ज्योतिः श्रुतिमें शरीरसे समुत्थान करके प्राण त्यागकर, आदित्य नामक पर ज्योतिके पास जाकर, उसके द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है, ऐसा कहना चाहिये। समुत्थाय और संपद्य इनमें क्त्वाप्रत्ययके श्रवणसे ज्योति आर्चि आदि मार्गमें है, ऐसा भान होता है। इसलिए मार्गस्थ सूर्यकी उपासनासे क्रममुक्तिपरक वाक्य है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आशय यह कि व्याख्येयरूपसे आत्माका ही उपक्रम है,

भाष्य

ख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चाऽनुसन्धानात् । 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चाऽशरीरतायै ज्योतिः-सम्पत्तेरस्याभिधानात्, ब्रह्मभावाच्चाऽन्यत्राशरीरतानुपपत्तेः; 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।२) इति च विशेषणात् । यत्तूक्तम्—मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता इति, नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्ति-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार आत्माका अनुसन्धान है। 'अशरीरं वाव सन्तं०' (सुख और दुःख शरीर-रहित आत्माका स्पर्श नहीं करते) इस प्रकार शरीररहित स्वरूपके लिए यह (जीव) ज्योतिरूपमें सम्पन्न होता है, ऐसा कहा है, और ब्रह्मभावके सिवा अशरीरत्व उपपन्न नहीं हो सकता, और 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (जो पर ज्योति है, वह उत्तम पुरुष है) ऐसा विशेषण है । मुमुक्षुके लिए आदित्य-प्राप्तिका अभिधान किया है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है, क्योंकि गति और

रत्नप्रभा

वाक्येन एकवाक्यताप्रयोजकप्रकरणानुगृहीतोत्तमपुरुषश्रुत्या वाक्यभेदकज्योतिश्श्रुतिः बाध्या इति भावः । अशरीरत्वफललिङ्गाद् च ब्रह्मैव ज्योतिः, न सूर्य इत्याह—**अशरीरमिति** । न च सूर्यप्राप्त्या क्रमेण अशरीरत्वं स्यादिति वाच्यम्, परत्वेन विशेषितस्य ज्योतिष एव "स उत्तमः" (छा० ८।१२।३) इति परामर्शेन अशरीरत्वनिश्चयात् इत्याह—**परमिति** । पूर्वोक्तलिङ्गं दूषयति—**यत्त्विति** । नाडीखण्डे दहरोपासकस्य या सूर्यप्राप्तिः उक्ता, स न मोक्ष इति युक्ता सूर्योक्तिः, अत्र प्रजापतिवाक्ये तु निर्गुणविद्यायाम् अर्चिरादिगतिस्थसूर्यस्य अनन्वयात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए ज्योतिःशब्दसे वह आत्मा ही व्याख्येय है । इस प्रकार ज्योतिवाक्यके साथ एकवाक्यता करानेवाले प्रकरणसे अनुगृहीत 'स उत्तमः पुरुषः' इस उत्तमपुरुषश्रुतिसे वाक्यभेदक ज्योतिः-श्रुतिका बाध करना चाहिए । अशरीरत्वरूप फलके कथनसे भी ज्योति ब्रह्म ही है, सूर्य नहीं, ऐसा कहते हैं—"अशरीरं०" इत्यादिसे । सूर्यकी प्राप्तिसे क्रमसे अशरीरत्व होगा, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि परत्वरूप विशेषणसे विशिष्ट जो ज्योति है, वही उत्तम पुरुष है, ऐसा परामर्श होनेसे उसमें अशरीरत्वका निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"परम्" इत्यादिसे । पूर्वोक्त लिङ्गको दूषित करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे । नाडीखण्डमें दहरके उपासकके लिए जो सूर्यप्राप्ति कही गई है, वह मोक्ष नहीं है, इसलिए वहाँ सूर्यका कथन युक्त है । यहाँ प्रजापति-वाक्यमें—निर्गुणब्रह्मविद्यामें अर्चि आदि मार्गोंमें रहनेवाले सूर्यका सम्बन्ध न होनेसे श्रुतिका

भाष्य

सम्बन्धात् । नह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥४०॥

भाष्यका अनुवाद

उत्क्रान्तिके साथ संबन्ध है । आत्यन्तिक मोक्षमें गति और उत्क्रान्तिका संबन्ध नहीं रहता है ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

अनर्थकत्वात् श्रुतिव्यत्यासेन स्वरूपं साक्षात्कृत्य परं ज्योतिः तदेव उपसम्पद्यते इति व्याख्येयम् इति भावः ॥४०॥ (११) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता, इसलिए व्यत्याससे[1] स्वरूपका परज्योतिरूपसे साक्षात्कार करके परज्योति ही हो जाता है, ऐसा श्रुतिका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा भाव है ॥ ४० ॥

१—जैसे 'मुखं व्यादाय स्वपिति' इस वाक्यमें 'सुप्त्वा व्याददाति' ऐसा व्यत्यास होता है वैसे ही 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस वाक्यमें 'अभिनिष्पद्य सम्पद्यते' ऐसा व्यत्यास समझना चाहिए और अभिनिष्पत्ति—साक्षात्कार तथा उपसम्पत्ति—होना है ।

[१२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण सू० ४१]

वियद्वा ब्रह्म वाऽऽकाशो वै नामेति श्रुतं वियत् ।
अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहिकत्वतः ॥१॥
निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः ।
ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'आकाशो वै नाम नाम रूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें पठित आकाशपद भूताकाशका वाचक है या ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—अवकाशप्रदान द्वारा सबका निर्वाहक होनेके कारण श्रुतिमें उक्त आकाशपद भूताकाशका वाचक हो सकता है ।

सिद्धान्त—यहां निर्वाहकत्व है नियन्ता होना, वह नियन्तृत्व परमार्थतः परब्रह्ममें ही है और वाक्यशेषमें ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द हैं, अतः उक्त श्रुतिमें आकाशपदसे परब्रह्म ही कहा गया है ।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके अन्तमें श्रुति है—"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म, तदमृतम्, स आत्मा" इसका अर्थ है कि आकाशनामक कोई पदार्थ है, वह जगत्स्वरूप नाम और रूपका निर्वाहक है, वे नाम और रूप जिस आकाशसे भिन्न हैं अथवा जिस आकाशके मध्यमें हैं, वह आकाश मरणरहित ब्रह्म है, वही प्रत्यगात्मा है ।

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त श्रुतिमें आकाशपद भूताकाशका वाचक है, क्योंकि 'नामरूपयो. निर्वहिता' इस प्रकार कथित निर्वाहकत्वका अवकाश देनेवाले भूताकाशमें सम्भव है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां निर्वाहकत्व अवकाश देना नहीं है, किन्तु नियामक होना है, सब प्रकारसे निर्वाहक नियन्ता ही हो सकता है, वह नियन्ता ब्रह्म ही है, क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस जीवस्वरूपसे प्रवेश कर नाम और रूपको व्यक्त करूँगा) ऐसी अन्य श्रुति है । नियम्य पदार्थोंको न जाननेवाला अचेतन भूताकाश नियन्ता नहीं हो सकता है, इसलिए उक्त श्रुतिमें आकाशपद ब्रह्मका ही वाचक है । और 'तद् ब्रह्म, तदमृतम्, स आत्मा' इस प्रकार वाक्यशेषमें ब्रह्मत्व, अमृतत्व और आत्मत्व धर्म कहे गये हैं, उनका भूताकाशमें सम्भव नहीं है, इससे भी सिद्ध होता है कि उक्त आकाश ब्रह्म ही है ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—आकाशः, अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—आकाशः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादिश्रुतौ आकाशशब्दितः [परमात्मैव, कुतः] अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्—'ते यदन्तरा' इत्याकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरत्वेन 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति ब्रह्मत्वादिना च व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—'आकाशो वै०' (नाम और रूपका निर्माणकर्ता प्रसिद्ध आकाश है) इत्यादि श्रुतिमें आकाशशब्दसे प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, क्योंकि 'ते यदन्तरा०' (वे नाम और रूप जिसके मध्यमें हैं अथवा जिससे भिन्न हैं) इस प्रकार आकाशका नाम और रूपसे भेद एवं 'तद् ब्रह्म०' (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है) इस प्रकार ब्रह्मत्व आदि रूपसे व्यपदेश है ।

भाष्य

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४।१) इति श्रूयते । तत् किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किं वा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः, आकाशशब्दस्य तस्मिन् रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चाऽवकाशदानद्वारेण

भाष्यका अनुवाद

'आकाशो वै नाम०' (आकाश नाम और रूपका व्याकरण—निर्माण करनेवाला है। वे नाम और रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) ऐसी श्रुति है। उसमें आकाशशब्दवाच्य परब्रह्म है या प्रसिद्ध भूताकाश है, ऐसा विचार होनेपर [किसका ग्रहण करना युक्त है] ।

पूर्वपक्षी—भूताकाशका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि आकाशशब्द उसमें

रत्नप्रभा

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । छान्दोग्यमुदाहरति—**आकाश इति** । यथाउपक्रमबलाद् ज्योतिश्श्रुतिबाधः, तथा आकाशोपक्रमाद् ब्रह्मादिशब्दबाध इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—**भूतेति** । श्रुतैः गुणैः आकाशोपास्तिः निर्गुणब्रह्मज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आकाश" इत्यादिसे छान्दोग्य वाक्यको उद्धृत करते हैं। जैसे उपक्रमके बलसे ज्योतिःश्रुतिका बाध है, वैसे ही आकाशशब्दके उपक्रमसे ब्रह्मादिशब्दोंका बाध करना चाहिए, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"भूत" इत्यादिसे। श्रुत्युक्त गुणोंसे आकाशकी उपासना

भाष्य

तस्मिन् योजयितुं शक्यत्वात् । स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याऽश्रवणादिति ।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाऽऽकाशशब्दं भवितुमर्हति, कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्, 'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति । न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं सम्भवति, सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात् । नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति, 'अनेन

भाष्यका अनुवाद

रूढ है, अवकाश देनेके कारण नाम और रूपका वह निर्माणकर्ता हो सकता है और श्रुतिमें स्रष्टृत्व इत्यादि स्पष्ट ब्रह्मलिंग नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—यहां आकाशशब्द परब्रह्मका ही वाचक है । किससे ? भेद आदिके व्यपदेशसे । 'ते यदन्तरा०' ऐसा नाम और रूपसे भिन्न आकाशका व्यपदेश है और ब्रह्मको छोड़कर दूसरा नाम और रूपसे भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सब विकारसमूह नाम और रूपसे ही व्याकृत हैं । उसी प्रकार नाम और रूपका स्वतंत्र निर्माण ब्रह्मसे अन्यत्र संभव नहीं है,

रत्नप्रभा

चेति उभयत्र फलम् । "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (ब्र० १।१।२२) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य तद्वदत्र स्पष्टलिङ्गाश्रवणादिति परिहरति—**स्रष्टृत्वादेश्चेति** । "वै नाम" (छा० ८।१४।१) इति प्रसिद्धिलिङ्गस्य आकाशश्रुतेश्च वाक्यशेषगताभ्यां ब्रह्मात्मश्रुतिभ्याम् अनेकलिङ्गोपेताभ्यां बाधो युक्तः । यत्र बहुप्रमाणसंवादः तत्र वाक्यस्य तात्पर्यमिति निर्णयादिति सिद्धान्तयति—**परमेवेत्यादिना** । नामरूपे—शब्दार्थौ, तदन्तःपातिनः तद्भिन्नत्वं तत्कर्तृत्वं च अयुक्तमित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है । "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इसके साथ इस सूत्रकी पुनरुक्ति होगी ऐसी आशङ्का करके उसके समान यहां स्पष्ट लिङ्गका श्रवण नहीं है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"स्रष्टृत्वादेश्च" इत्यादिसे । "वै नाम" ऐसे प्रसिद्धिरूप लिङ्ग और आकाशश्रुतिका वाक्यशेषमें पठित अनेक ब्रह्मलिङ्गोंसे युक्त ब्रह्मश्रुति और आत्मश्रुतिसे बाध होना युक्त है । जिसमें बहुत प्रमाणोंका संवाद हो, उसमें ही वाक्यका तात्पर्य होता है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"परमेव" इत्यादिसे । नाम—शब्द । रूप—अर्थ । जो इसके अन्तर्गत हो, अर्थात् जो स्वयं नाम और रूप हो वह उससे भिन्न और उसका कर्ता हो, यह सम्भव नहीं

भाष्य

जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२)इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्याऽपि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति । बाढमस्ति, अभेदस्त्विह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवाऽयं प्रपञ्चः ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवात्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूपको मैं व्यक्त करूँगा) इस प्रकार ब्रह्म कर्ता है, ऐसी श्रुति है । परन्तु जीव भी नाम और रूपका निर्माण करता है, यह प्रत्यक्ष है । यह सत्य है। यहां तो अभेदकी विवक्षा है । नाम और रूपके निर्माणका अभिधान है, इसीसे स्रष्टृत्व आदि ब्रह्मलिंगोंका अभिधान हुआ । 'तद्ब्रह्म तदमृतं०' (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) ये ब्रह्मवादके लिंग हैं । यह सूत्र 'आकाश०' इस सूत्रका ही विस्तार है ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

नामादिकर्तृत्वं न ब्रह्मलिङ्गम्, जीवस्थत्वादिति शङ्कते—**नन्विति** । 'अनेन जीवेन' इत्यत्र जीवस्य ब्रह्माभेदेन तत्कर्तृत्वमुच्यते साक्षादयोगादिति परिहरति—**बाढमिति** । यच्च उक्तम्—स्पष्टं लिङ्गं नास्ति इति, तत्राऽऽह—**नामेति** । तर्हि पुनरुक्तिः, तत्राऽऽह—**आकाशेति** । तस्यैव साधकोऽयं विचारः । अत्र आकाशशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तिं सिद्धवत्कृत्य तत्र संशयादिप्रवृत्तेः उक्तत्वादिति न पौनरुक्त्यम् इति भावः ॥४१॥ (१२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । नाम आदिका कर्तृत्व ब्रह्मका ही लिङ्ग नहीं है, किन्तु जीवका भी लिङ्ग है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । 'अनेन जीवेन' जीवका ब्रह्मके साथ अभेद करके वह कर्ता कहा गया है, साक्षात् कर्ता नहीं हो सकता; इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । स्पष्ट लिंग नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—"नाम" इत्यादि । तब पुनरुक्ति होगी, इसपर कहते हैं—"आकाश" इत्यादि । उसका ही साधक यह विचार है । यहां आकाशशब्दकी वृत्तिको ब्रह्ममें सिद्ध-सा मानकर उसमें संशय आदिकी प्रवृत्ति कही है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है ॥ ४१ ॥

[१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण सू० ४२-४३]

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते।
आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥१॥
विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः।
ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इस श्रुतिमें उक्त विज्ञानमय जीव है या ब्रह्म?

पूर्वपक्ष—आदि, मध्य एवं अन्तमें जीवका प्रतिपादन है, इसलिए उक्त श्रुतिमें विज्ञानमय जीव ही कहा गया है।

सिद्धान्त—श्रुति लोकसिद्ध जीवको प्राण आदि उपाधियोंसे अलग करके उसमें ब्रह्मत्वका बोध कराती है, इसलिए यहां अन्य प्रमाणसे अज्ञात ब्रह्मका ही बोध होता है, जीवका बोध नहीं होता।

---

* तात्पर्य यह कि बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें श्रुति है "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति"। इसका अर्थ है कि स्थूल देह, इन्द्रियों, प्राण आदि वायु, अन्तःकरण और अन्तःकरणकी काम, सङ्कल्प आदि वृत्तियोंसे भिन्न एवं उनके साक्षी ज्योतिःस्वरूप पुरुष लिङ्गशरीरमें अभेदाध्याससे लिङ्गशरीरके समान होकर इस लोक और परलोकमें संचार करता है।

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि विज्ञानमय जीव है, क्योंकि ज्योतिर्ब्राह्मणके आदि, मध्य और अन्तमें संसारीका ही विस्तारसे कथन है। आदिमें 'उभौ लोकावनुसंचरति' (दोनों लोकोंमें संचार करता है) इस प्रकार जीवका कथन स्पष्ट ही है। मध्यमें भी सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओंका प्रपंच है। इसी प्रकार अन्तमें भी 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः' (यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय है) इत्यादिसे उपाधिसहितके वर्णन द्वारा जीवका ही कथन है, अतः उक्त श्रुतिमें जीव ही कहा गया है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां जीवका प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि 'मैं' इस प्रत्ययका विषय होनेके कारण वह लोकसिद्ध है। प्राण आदि उपाधियोंसे भिन्न समझानेके लिए आदिमें जीवका कथन है। मध्यमें तीनों अवस्थाओंसे संसर्गराहित्य बतलानेके लिए अवस्थाओंका उपन्यास है। अन्तमें जीवके स्वरूपका अनुवाद करके उसमें ब्रह्मत्वका बोध कराया जाता है। ब्रह्मत्व तो अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त श्रुतिमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, जीव प्रतिपाद्य नहीं है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः, भेदेन ।

पदार्थोक्ति—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन—['योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादिश्रुतौ प्रतिपाद्यमानः पुरुषः परमात्मैव, कुतः] 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः उत्सर्जन् याति' इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरवस्थयोः शारीराद् भेदेन परमात्मनः प्राज्ञशब्देन व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—'योऽयं विज्ञान०' (यह जो प्राणोंसे भिन्न विज्ञानमय एवं हृदयके अन्दर स्वयंज्योति पुरुष है, वह आत्मा है) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपाद्यमान पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्मासे संश्लिष्ट—एकीभूत जीव न किसी बाहरी पदार्थको जानता है, न किसी भीतरी पदार्थको जानता है) 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्मासे अधिष्ठित पुरुष घोर शब्दोंको करता हुआ जाता है) इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्ति अवस्थाओंमें जीवसे भिन्नरूपसे परमात्माका प्राज्ञशब्दसे अभिधान है ।

भाष्य

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत् किं संसारिस्वरूपमात्रान्वा-

भाष्यका अनुवाद

'व्यपदेशात्' की पिछले सूत्रसे अनुवृत्ति होती है । बृहदारण्यकके छठे प्रपाठकमें 'कतम आत्मेति योऽयं०' (आत्मा कौन है ? जो यह विज्ञानमय है, प्राण और बुद्धिसे भिन्न है, ज्योतिःस्वरूप और पूर्ण है, वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम करके फिर आत्माका विस्तारसे प्रतिपादन किया है । क्या वह वाक्य

रत्नप्रभा

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन । अहंधीगम्येषु कतम आत्मा इति जनकप्रश्ने याज्ञवल्क्य आह—**योऽयमिति** । विज्ञानम्—बुद्धिः, तन्मयः—तत्प्रायः, सप्तमी व्यतिरेकार्था, प्राणबुद्धिभ्यां भिन्न इत्यर्थः । वृत्तेः अज्ञानाच्च भेदमाह—अन्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन" । जनकने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया कि 'अहम्' (मैं) इस बुद्धिके विषयोंमेंसे आत्मा कौन है ? इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं—"योऽयम्" इत्यादि । यह विज्ञानमय—बुद्धिप्राय है । सप्तमी भेदार्थक है अर्थात् प्राण और बुद्धिसे अतिरिक्त । वृत्तिसे

भाष्य

ख्यानपरं वाक्यम्, उताऽसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति विशयः। किं तावत् प्राप्तम्? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति। कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्याम्। उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्, उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति।

भाष्यका अनुवाद

केवल संसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करता है या असंसारी ईश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करता है, ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—केवल संसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे यही प्रतीत होता है। उपक्रममें 'योऽयं विज्ञान०' (यह जो विज्ञानमय प्राणसे भिन्न) ऐसा जीवका लिंग कहा गया है और 'स वा एष०' (वह महान् जन्मरहित आत्मा है, जो कि विज्ञानमय है तथा प्राणसे भिन्न है) इस उपसंहारमें भी उसका परित्याग नहीं किया है और मध्यमें भी जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे उसीका विस्तारपूर्वक कथन है।

रत्नप्रभा

ज्योतिरिति। पुरुषः पूर्ण इत्यर्थः। उभयलिङ्गानां दर्शनात् संशयमाह—तत्किमिति। पूर्वत्र नामरूपाभ्यां भेदोक्तेः आकाशो ब्रह्म इत्युक्तम्, तद् अयुक्तम्, "प्राज्ञेनात्मना" (बृ० ४।३।२१) इति भिन्नेऽपि जीवात्मनि भेदोक्तिवत् औपचारिकभेदोक्तिसम्भवादिति आक्षेपसंगतिः। पूर्वपक्षे कर्मकर्तृजीवस्तुतिः, सिद्धान्ते जीवानुवादेन ततः कल्पितभेदभिन्नस्य प्राज्ञस्य परमात्मनः स्वरूपैक्यप्रमितिरिति फलम्। बुद्धान्तः—जाग्रदवस्था। आदिमध्यावसानेषु जीवोक्तेः जीवस्तावकम् इदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

और अज्ञानसे भी भेद कहते हैं—"अन्तर्ज्योतिः" से। पुरुष—पूर्ण। दोनोंके लिंग दिखाई देते हैं, अतः संशय कहते हैं—"तत्किम्" इत्यादिसे। पूर्वाधिकरणमें नाम और रूपसे भिन्न होनेके कारण आकाश ब्रह्म कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादिसे जीवका ब्रह्मसे अभेद सिद्ध रहनेपर भी जैसे भेद कहा जाता है, उसी प्रकार औपचारिक भेदका कथन हो सकता है, ऐसी आक्षेप संगति है। पूर्वपक्षमें कर्मोंके कर्ता जीवकी स्तुति फल है, सिद्धान्तमें जीवके अनुवादसे उससे कल्पित भेदसे भिन्न प्राज्ञ परमात्माके स्वरूपके साथ जीवका अभेदज्ञान फल है। बुद्धान्त—जाग्रदवस्था। पहले, मध्य और अन्तमें जीव

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.